चरित्र-निर्माण

पूर्णचन्द्र एडवोकेट

चरित्र निर्माण पुष्प माला : षष्ठम पुष्प

चरित्र निर्माण

लेखक :

पूर्णचन्द्र एडवोकेट

अधिष्ठाता—चरित्र निर्माण विभाग, सार्वदेशिक
आर्य प्रतिनिधि सभा व आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश।

आगरा बुक स्टोर

प्रकाशक, विक्रेता एवं मुद्रक

आगरा अजमेर इलाहाबाद कानपुर दिल्ली नागपुर
मेरठ लखनऊ वाराणसी

१९५९]

[मूल्य १·१५

❀ ओ३म् ❀

भूमिका

आचारः परमो धर्मः

सुख शान्ति की प्राप्ति के लिये सब को सदाचारी बनने का यत्न करना चाहिये। देश लगभग १२ साल से स्वतन्त्र हो चुका है। और स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से देश की दशा को उन्नत बनाने के लिये कई प्रकार की योजनायें विचाराधीन हैं और उनके अनुसार कार्य किया जा रहा है। खाने-पीने की सामिग्री में वृद्धि हो और अच्छी सड़कें बनें, नदियों पर बाँध बाँधे जायँ। ये सब योजनायें बहुत शुभ और हितकारी हैं। परन्तु चरित्र बल के बिना धनबल, बाहुबल और बुद्धिबल सफलता के प्रतीक नहीं हो सकते। स्वास्थ्य अच्छा हो आर्थिक स्थिति भी अच्छी हो और ज्ञान और बल भी प्राप्त हो परन्तु चरित्र के बिना शारीरिक उन्नति, मानसिक उन्नति और आर्थिक उन्नति सब निष्फल हो जाते हैं।

यदि स्वास्थ्य अच्छा हो, शरीर बलवान हो, और हृदय में पवित्रता न हो तो हृदय में बुरी कामनायें स्थान पा जाती हैं और स्वास्थ्य ही एक रूप से नाश का कारण बन जाता है। यदि पैसा पास हो, कमाई अच्छी हो, धन जमा दीखता हो और चरित्र की पवित्रता न हो तो यह पैसा ही नाश का कारण बन जाता है। यदि व्यक्ति बुद्धिमान है, पढ़ा-लिखा है और शिक्षित है परन्तु उसमें चरित्र बल नहीं है तो वह अपनी बुद्धि और शिक्षा के सहारे पाप करने के लिये नये-नये बहाने निकाल लेता है। यदि बिना पढ़ा-लिखा आदमी शराब पीता है या जुआ खेलता है तो वह कभी-कभी अपनी भूल भी स्वीकार कर लेता है। परन्तु पढ़ा-लिखा अपनी बुराइयों को छिपाने

के लिये अपनी बुद्धि के अनुचित प्रयोग से बुराइयों को भलाई के रूप में प्रगट करने और सिद्ध करने का यत्न करता है और यह सिद्ध करना चाहता है कि वह शराब पीता है तो केवल मनोरंजन के लिये थोड़ा सा मुँह का मजा बदलने के लिये पीता है। मित्रों के आग्रह से पीता है, ऋतुओं के परिवर्तन के कारण पीता है। ऐसी दशा में हृदय की पवित्रता सबसे अधिक आवश्यक है।

हृदय की पवित्रता के लिये धर्म की भावना सबसे अधिक आवश्यक और अनिवार्य है। मनुष्य रूपी मशीन का केन्द्र हृदय है। वहीं से विचार चलते हैं जो आगे चलकर आचार के रूप में प्रगट होते हैं और व्यवहार का रूप धारण करते हैं।

हृदय जगत की व्यवस्था के लिये, धार्मिक भावना सबसे अधिक आवश्यक है। धर्म को सार्वजनिक रूप में अपने सन्मुख रखने के लिये उसको सम्प्रदायवाद और अन्धविश्वास से पृथक करके नैतिक उत्थान का आधार मानना होगा।

इन्हीं विचारों की व्याख्या इस पुस्तक में संक्षिप्त रूपरेखा से की गई है।

मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि इस सम्बन्ध में जो उनके विचार हों वे उनसे मुझे अवगत कराने की कृपा करें जिससे जो ठीक हो वे सब द्वितीयावृत्ति में सम्मिलित किये जा सकें। आभारी हूँगा।

लेखक—

विषय-सूची

१—मनुष्य और चरित्र

केवल मनुष्य में ही यह विशेषता है कि वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है, ज्ञान में वृद्धि कर सकता है। अन्य प्राणियों में केवल स्वाभाविक ज्ञान है; परन्तु मनुष्य में केवल स्वाभाविक ज्ञान उसके विकास के लिये पर्याप्त नहीं है। उसमें ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है; परन्तु उसका ज्ञान दूसरों से मिलता है। जिनसे ज्ञान मिलता है, वे अध्यापक या गुरू कहलाते हैं, परन्तु ज्ञान आदि का अर्थ चरित्र का निर्माण है। ऐसी दशा में जिनके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो, उनके लिये सबसे उत्तम परिभाषा 'आचार्य' की है। आचार्य वे हैं जो स्वयं जैसा जानें, वैसा करें और जिनको ज्ञान दें, उनको न केवल जानने और मानने की प्रेरणा करें; परन्तु जैसा जानें एवं मानें, वैसा जानने और करने के लिये भी उत्साहित करें।

आजकल की शिक्षा, जहाँ तक ज्ञान देने का सम्बन्ध है, एक अंश में सफल है। ज्ञान देने के, ज्ञान के विस्तार के अनेक साधन हैं और विज्ञान के आधार पर सरल, सुगम और सार्वजनिक साधन प्रचलित हैं। आज अमरीका में बैठे हुए एक अध्यापक पढ़ा सकता है और सारे संसार में विद्यार्थी रेडियो के सहारे एक नियत समय पर पढ़ सकते हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान देते समय या ज्ञान के विस्तार के समय यह ध्यान में रहना अनिवार्य है कि जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के लिये शरीर के भोजन की जाँच-पड़ताल आवश्यक है, इसी प्रकार मानसिक भोजन के लिये मानसिक ज्ञान की परीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। जो कुछ वह सुनता, देखता, सोचता और खाता है, सबका जीवन पर प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावों के सामूहिक नाम को ही 'संस्कार' कहते हैं और संस्कार से ही चरित्र-निर्माण होता है।

इन संस्कारों से ही विकास होता है और इनसे ही अवनति होती है। ऐसी दशा में इस बात पर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है कि ज्ञान देने वाला कौन है, किस प्रकार का ज्ञान देता है, किस आधार पर देता है, और उसके लिये कैसे साधन प्रयोग में लाये गये हैं? उदाहरण के लिये गाने और कहानियों से भी ज्ञान का विस्तार हो सकता है; परन्तु यदि गाने में रस दूषित है और कहानियों में भाव चरित्र-नाशक हैं, तो उनसे ज्ञान तो बढ़ेगा; परन्तु भयानक विष के साथ। जिस प्रकार शारीरिक भोजन के साथ यदि पेट में विषैला पदार्थ चला जाय तो धीरे-धीरे स्वास्थ्य दूषित होने लगता है और फिर औषधि और उपचार की चिन्ता होती है, इसी प्रकार यदि मानसिक भोजन के साथ-साथ अनुचित सामग्री का समावेश मानसिक जगत में हृदय के अन्दर प्रवेश करता जायगा तो शिक्षा का ज्ञान तो बढ़ेगा, परन्तु वह महाविष भी अपना प्रभाव डालेगा। और इसका ही दुष्परिणाम है कि आज शिक्षित जगत् पर, न केवल भारत में, परन्तु न्यूनाधिक प्रत्येक देश में चरित्रहीनता का दोषारोपण हो रहा है। इसी का परिणाम है कि निष्कर्मण्यता का आक्षेप बहुधा सुना जाता है। यदि अधिक खा लिया जाता है और वह हजम नहीं होता तथा अंग नहीं लगता तो वह अधिक खाया हुआ भोजन अजीर्ण और अन्य प्रकार के कई रोग पैदा कर देता है। वैद्यों की दृष्टि में पेट सब रोगों का आधार है। यदि पेट ठीक तो सारे शरीर के अङ्ग ठीक। इसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिये हृदय या मन की पवित्रता अनिवार्य है। यदि केवल भोजन की मात्रा और स्वाद पर ध्यान गया और खाने-वालों की पाचन-शक्ति पर ध्यान नहीं दिया गया तो खाया-पीया हुआ पदार्थ लाभ के स्थान पर हानि करता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाओं ने मानसिक भोजन में स्वाद तो बढ़ा दिया है और इस स्वाद में विभिन्नता भी आ गई है जो स्वयं उसको रोचक बनाती है, परन्तु यदि कला केवल रोचकता के आधार पर प्रिय हो और उपयोगिता पर दृष्टि न हो तो वही परिणाम होगा जो चटपटे भोजन और चाट खाने का विद्यार्थियों पर और अन्य चटोरे व्यक्तियों पर

होता है । शिक्षा द्वारा विकास के प्रश्न पर विचार करते हुए शिक्षा-जगत के दोनों स्तम्भों पर विचार करना होगा अर्थात् अध्यापक और विद्यार्थी दोनों पर दृष्टि रखनी होगी और दोनों स्तम्भों को संयुक्त करने के लिये जो पुल है, वह शिक्षा की पाठ-विधि और पद्धति है । ये तीनों मिलकर तीन प्रश्न हमारे सामने उपस्थित करते हैं—'कौन पढ़ाये, क्यों पढ़ाये और किसको पढ़ाये ?'

आजकल एक आपत्ति और है वह यह कि आर्थिक दृष्टिकोण ने राष्ट्र के संचालकों पर गहरा प्रभाव डाल रक्खा है । रोटी की समस्या उनके सम्मुख है । वे यह भी नहीं भूल पाये कि केवल रोटी ही एक समस्या नहीं है । गम्भीरता से विचार करने पर शिक्षा प्राप्त करने की अवधि में रोटी के उपार्जन की समस्या विद्या ग्रहण करने वालों के सम्मुख आनी ही नहीं चाहिये । वे सादा भोजन करें, एक समय करें और चिन्ता से मुक्त होकर करें—यह आदर्श है और बेसिक शिक्षा अर्थात् कृषि-प्रधान शिक्षा इन सब में मनोविज्ञान की दृष्टि से एवं उपर्युक्त दृष्टिकोण से एक महान् त्रुटि है। जहाँ प्राचीन आदर्श के अनुसार ब्रह्मचर्यावस्था में विद्यार्थी को रोटी की चिन्ता से मुक्त रखकर उसको इस प्रकार शिक्षित बनाया जाता था कि जब वह गृहस्थ-जीवन में प्रविष्ट हो और रोटी के उपार्जन में संलग्न हो, तब उसके अन्दर रोटी के लिये लोभ और मोह न हो और न रोटी के संग्रह पर अभिमान ही हो । यदि वह रोटी की चिन्ता से मुक्त होकर शिक्षित होगा तो रोटी के चक्कर में इतना नहीं पड़ेगा कि रोटी-ही-रोटी चिल्लाये और इस बात का उसे ध्यान ही न रहे कि 'रोटी कैसी है, कहाँ से प्राप्त हुई है और खाने योग्य भी है या नहीं ।'

आर्थिक संकट से व्याकुल, आर्थिक झंझटों तथा प्रलोभनों में फँसे हुए नेता और संचालक इस समस्या का समाधान नहीं कर सकते । इसके लिये तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही अनिवार्य और आवश्यक है । भारतवर्ष में तो आर्थिक दृष्टिकोण का शिक्षा के साथ संयुक्त होना अत्यन्त अहितकर है । यहाँ तो शिक्षितों की संख्या ही अत्यन्त न्यून है

और पैत्रिक संस्कारों के आधार पर व्यवसाय को पुत्र स्वयं ही सीख लेता है तथा उसका प्रयोग करने लगता है। उसको जीविका के उपार्जन के लिये शिक्षा या साधारण ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसीलिये शिक्षितों की सख्या में वृद्धि नहीं होती। यदि शिक्षा का प्रमुख अङ्ग धनोपार्जन—रोटी की प्राप्ति, वेतन का मिलना होगा तो वह समुदाय, जिसके लिये उपर्युक्त प्रश्न का स्वयं समाधान हो चुका है, शिक्षा की ओर आकर्षित नहीं होगा और न उसका विकास ही हो सकेगा। शिक्षा का सीधा सम्बन्ध दीक्षा से है और दीक्षा का चरित्र-निर्माण से तथा चरित्र-निर्माण का सम्बन्ध है मानसिक जगत् की व्यवस्था से। मानसिक जगत् की व्यवस्था से अभिप्राय संकल्प और विकल्प की मर्यादा से है। यदि इच्छा और द्वेष का मर्यादित होना अनिवार्य है तो व्यक्ति क्या चाहे और क्या न चाहे, अमुक की इच्छा करे या न करे, आन्तरिक अंकुश आरम्भ से ही आवश्यक है। पर यदि अनुचित इच्छा या द्वेष स्थान पा गया और अन्धकार मन के जगत् में प्रवेश करके दूषित संस्कारों के रूप में केवल अतिथि बनकर ही नहीं, अपने गृहस्वामी होकर रहने लगा तो फिर सभी अंकुश निष्फल और निष्प्रयोजन हो जायँगे। जब वह घर में घर का मालिक बनकर जमकर बैठ गया है, तब उसको कौन निकालेगा? शिक्षा-जगत् वाले मस्तिष्क से आगे जाने की चेष्टा नहीं करते और न उसके आगे उनकी पहुँच है। मस्तिष्क मुख्य द्वार है। उस मुख्य द्वार तक पहुँचने के लिये पाँचों ज्ञान-इन्द्रियाँ मार्ग हैं, परन्तु पाँचों मार्गों और प्रमुख द्वार की व्यवस्था एक हो और गृहस्वामी की मर्यादा इससे पृथक् हो। बुद्धि, जहाँ तक मस्तिष्क का सम्बन्ध है, मुख्य द्वार तक पहुँच सकती है, वह चौकीदार का काम भी कर सकती है और आन्तरिक प्रवेश को और अधिक सुगम भी बना सकती है। चौकीदार चोरी को रोक भी सकता और चोरी को सुगम भी बना सकता है। मुख्य द्वार के अन्दर जो प्रत्येक व्यक्ति का एक गृह या राष्ट्र है उसके निर्माण के लिये एक विशेष विधि है और विधि के ज्ञान बिना शिक्षा पूरी नहीं हो

सकती और न गृहस्वामी का विकास और परिपूर्ण होना सम्भव है। आज पाँचों मार्ग बड़े सुसज्जित और मुख्य द्वार भी आकर्षक है, अन्दर की दशा अत्यन्त शोचनीय है। बाहर की दशा को देखकर आशा और अन्दर की दशा को देखकर निराशा हो रही है। अन्दर की दशा की निराशा ने बहुत चिन्ता उत्पन्न कर दी है। जैसा ऊपर दर्शाया गया है अर्थ की समस्या भी बाहरी व्यवस्था से नहीं सुलझती तो काम की व्यवस्था तो बिल्कुल नहीं होती। ब्रह्मचर्य-पालन तो और भी असम्भव हो गया है। कलाओं के प्रचार पर सुन्दर चित्र, आकर्षक गाने, मुख्य द्वार के अन्दर प्रवेश लेते हैं और कलाओं की आड़ में गृहस्वामी को बेकल कर देते हैं। फिर कल्याण कहाँ।

यदि व्यक्ति का कल्याण हो तो समाज का कल्याण हो। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में कृषि पर बल दिया गया अर्थात् अधिक खाओ और खिलाओ। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में उद्योग पर बल अर्थात् अधिक कमाओ, खूब कमाओ पर। ये बड़े आकर्षक प्रतीत होते हैं, परन्तु खाने वाला, कमाने वाला कौन है, कैसा है, उसके निर्माण के लिये कौन-सी योजना है—इधर अभी योजनाओं के निर्माण करने वालों का ध्यान नहीं गया है। यदि खाना और कमाना अधिक हुआ तो दूर की सूझेगी, पेट भरे को बड़ी उड़ान सूझती है, पेट भरा चञ्चल मन, व्याकुल मस्तिष्क होता है। जो खूब देखता है, दूर की देखता है, यन्त्रों से देखता है, आकाश तक देखता है, पाताल में भी देखता है, परन्तु क्या देखता है, क्यों देखता है इस पर ध्यान नहीं है। वर्तमान शिक्षा और विज्ञान के प्रचार ने शिक्षित युवक को एक अल्हड़, मन-चला पशु या तेज मोटर बना दिया है। बछड़े के लिये लगाम नहीं, पशु को अंकुश और मोटर के लिये ब्रेक। तेज गति है, परन्तु गति को ठीक प्रगति में लाने के लिये गति देने वाला संचालक दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। मनुष्य केवल चलता ही नहीं, दौड़ भी लगा सकता है। उसके लिये तो बहुत ही बड़ा बलयुक्त अंकुश चाहिये। शारीरिक शक्ति बढ़ रही है, मानसिक शक्ति बढ़ रही है, इन दोनों के प्रभाव से

हृदय जगत् में हलचल उत्पन्न हो रही है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि भूचाल आ रहे हैं, भूमि हिल रही है, अब कैसे रुके, कैसे थमे, इसका उपाय नहीं सूझता। वर्तमान उन्नत विज्ञान को भूचाल के सम्बन्ध में अब तक केवल यह पता चल सका है कि कितनी दूर से आया और कितनी देर के लिये आया। न आने के पहले पता लगता है और न रोकने के साधन हैं। भूचाल आ गया, मकान गिर गये, नगर बर्बाद हो गये, व्यक्ति नष्ट हो गये, राष्ट्रनिर्माण और संचालकों ने शोक प्रकट किया, सहानुभूति का प्रदर्शन किया, सहायता दी, नगर और बाजारों के निर्माण में लग गये, परन्तु भूचालों से स्थायी रक्षा हो, विज्ञान असमर्थ है।

आध्यात्मिक जगत् में हृदय रूपी संसार में काम, क्रोध, लोभ, मोह के आक्रमणों से इस प्रकार के भूचाल आते हैं कि सब पढ़ा-लिखा समाप्त, बना-बनाया काम खतम। जाँच कमीशन बैठा, कारणों का पता लगा लिया पर अधूरा, नयी योजना बनायी वह भी अपूर्ण। वास्तविक कारण, आन्तरिक रूप-रेखा, न उनके सम्मुख है और न उनकी पहुँच वहाँ तक है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—अन्तःकरण कहलाते हैं। ये अन्दर के करण हैं। वर्तमान शिक्षा की अन्तःकरण के केवल एक चौथाई विभाग बुद्धि तक पहुँच है, वह भी अधूरी है। मन, चित्त और अहंकार तो उसकी पहुँच के बाहर है, न उसका ध्यान इस ओर है और न उसका ज्ञान वहाँ तक है। जब न ज्ञान है न ध्यान है तो उनके सुधार का सामान तो उपलब्ध ही क्या कर सकते हैं। भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति मन, चित्त और अहंकार की स्थायी व्यवस्था को लक्ष्य में रखकर ही थी और बुद्धि की मर्यादा इन तीनों की मर्यादाओं से सम्बन्धित थी। इसलिये बुद्धि की मर्यादा के लिये गायत्री का मन्त्र आवश्यक है और गायत्री के आधार पर बुद्धि मर्यादित होती है; परन्तु कैसी बुद्धि प्राप्त होती है कि मन पवित्र, चित्त शान्त और अहंकार की भावना मर्यादित हो जाती है। अहंकार या अहंभाव कुचला नहीं जा सकता, मारा नहीं जा सकता; परन्तु

फैलाया जा सकता है। एक जीव का अहंभाव आत्मिक दृष्टिकोण से प्राणिमात्र तक विस्तार में और परमात्मा तक ऊँचाई में पहुँच सकता है और यही अहंभाव गहराई में अपनी आत्मा तक होगा। प्राणिमात्र तक विस्तृत, परमात्मा तक उन्नत और आत्मा तक गम्भीर एक व्यक्ति तब महान् बनता है। व्यक्ति को महान् कहो, महात्मा कहो, विकसित कहो, बड़ा कहो, आचार्य कहो, गुरु कहो, साधु कहो या सन्त कहो, सबके अन्तरङ्ग महानता में ये गुण होने चाहिये। जिनके गुण महान्, उनका स्वभाव महान्। जिनका स्वभाव महान्, उनका चरित्र महान् और महान् चरित्र वालों का समुदाय महान् और अनुकरणीय। हमारी यह विकास की योजना है कठिन, परन्तु अटल और स्थायी है। क्या अच्छा हो यदि योजना वाले, निर्माण वाले इस प्राचीन योजना पर भी विचार करना सीखें।

२—चरित्र-निर्माण की परिभाषा

चरित्र-निर्माण की रूप-रेखा बड़ी विशाल और अत्यन्त गम्भीर है, परन्तु, साधारणतया उस को समझने के लिये हमें प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक जगत की ओर ध्यान देना होगा। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान और कर्म का समन्वय है और कर्म करने के लिये मुख्य साधन मन है, यदि मन की व्यवस्था ठीक हो तो व्यक्ति का संकल्प और विकल्प ठीक होगा, संकल्प और विकल्प के ठीक होने से इच्छायें और द्वेष की भावनायें कम होंगी और इच्छायें और द्वेष के मर्यादित होने से प्रयत्न मर्यादित हो जायेगा और इन तीनों के मर्यादित होने से कर्म-व्यवस्था ठीक होगी, और कर्म-व्यवस्था के ठीक होने का नाम ही चरित्र निर्माण है। मन की दशा ठीक बनाने के लिये यह बात लक्ष्य में रखनी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति में एक साम्राज्य है इस साम्राज्य का सम्राट परमात्मा है और मुख्य मन्त्री आत्मा है, यदि परमात्मा का आदेश, आत्मा के लिये माननीय होता है और आत्मा मन को अपने वशीभूत

रखता है तो मन की व्यवस्था ठीक होगी और मन की व्यवस्था ठीक होने से इन्द्रियों की प्रगति पवित्र होगी। मन के आधीन ज्ञान इन्द्रियाँ हैं और ज्ञान इन्द्रियों के आधीन कर्म इन्द्रियां है। यदि यह व्यवस्था ठीक नहीं रहती और परमात्मा का प्रभाव आत्मा पर, और आत्मा का मन पर नहीं रहता तो दशा ठीक नहीं रह सकती। चरित्र-निर्माण के लिये व्यावहारिक आस्तिकता और ईश्वर की सत्ता में अटल विश्वास पर बल देना होगा। जितने अपराध होते हैं उनके साथ यह भावना लगी रहती है कि अपराध करने वाला यह आशा रखता है कि उसका अपराध छिपा रहेगा, या यदि किसी कारण से उसका अपराध प्रकट हो गया तो वह उसके परिणाम से बच जायगा। इस भावना का निराकरण ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने से और उस को सर्व व्यापक मानने से हो जाता है। मन की दशा ठीक बनाने के लिये हमें शिक्षा की विधि पर भी विचार करना होगा और संस्कारों की प्रथा को प्रचलित करना होगा। शिक्षा से ज्ञान मर्यादित होता है और संस्कारों से मानसिक भावनायें और उसके परिणाम से कर्म। मन की दशा ठीक करने के लिये दो और साधन भी हैं जिन्हें हम यज्ञ और योग के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। यज्ञ की भावना से मनुष्य स्वार्थ की भावना से बचा रहता है और परोपकार की भावना उसके अन्दर जाग्रत रहती है वह संसार के पदार्थों को प्रयोग में लाते समय केवल अपने स्वार्थ को ही लक्ष्य में नहीं रखता परन्तु दूसरों के हितों पर भी दृष्टि रखता है। योग का अभिप्राय यह है कि मनुष्य की आत्मा में इस प्रकार का अभ्यास हो कि वह संसार के पदार्थों का प्रयोग करते समय और अन्य प्राणियों के सम्पर्क में आते समय ईश्वर को रचयिता के रूप में और न्यायकारी और संचालक के रूप में अपने सम्मुख रक्खे।

३—चरित्र निर्माण और आन्तरिक शुद्धि

चरित्र निर्माण के लिये केवल बाहर की रूप-रेखा पर ही विचार करना पर्याप्त नहीं है, बाहर का चरित्र व्यवहार कहलाता है. व्यवहार

का व्यक्तिगत रूप आचार है और आचार का मौलिक रूप विचार हैं। सबसे पहले चरित्र-निर्माण की रूप-रेखा निर्धारित करते समय सबसे अधिक आवश्यक विचारों की शुद्धि है, यदि विचार शुद्ध, सत्य और सुन्दर होंगे तो आचार भी सुन्दर और शुभ होंगे, जिसका आचार और विचार ठीक हैं उसका व्यवहार भी ठीक होगा केवल व्यवहार को कानून या लोक-लज्जा है आधार पर ठीक करने की भावना लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकती, यदि राज्य नियम या दण्ड के प्रभाव से व्यवहार में कुछ परिवर्तन या संशोधन हो भी जाये तो आचार और विचार ठीक न होने से वह दशा अस्थाई रूप धारण नहीं कर सकती। जरा सा अवसर मिलने पर दूषित आचार और विचार दूषित व्यवहार के रूप में प्रकट हो जाते हैं और दूषित व्यवहार से व्यवहार करने वाला और जिसके साथ व्यवहार होता है दोनों दूषित रहते हैं। विचारों की दशा ठीक करने के लिये मन के संकल्प और विकल्पों को मर्यादित करना होगा। यदि संकल्प और जो इच्छा और द्वेष के रूप में प्रकट होते हैं मर्यादित होंगे तो इच्छायें और द्वेष भी मर्यादित होंगी।

इच्छाओं और द्वेष के मर्यादित होने से प्रयत्न भी मर्यादित और नियमों के अन्तर्गत रहेगा। प्रयत्न का सम्बन्ध कर्म और भोग दोनों से है, प्रयत्न का ठीक हो जाना ही कर्म-व्यवस्था का ठीक होना है। और कर्म-व्यवस्था के हो ठीक होने से भोग की मर्यादा ठीक होती है, जितना बल भोजन, वस्त्र और निवास स्थान और मार्ग की सफाई पर दिया जाना आवश्यक और हितकर है उससे बहुत अधिक आवश्यक आन्तरिक शुद्धि अर्थात् अन्दर की मर्यादा ठीक करना है।

आन्तरिक शुद्धि के सम्बन्ध में

संसार में तीन प्रकार के नियम प्रचलित हैं, राज नियम, लोक नियम, दैविक नियम। राज नियम और लोक नियमों का सम्बन्ध वाह्य परिस्थित तक है अर्थात् उनकी पहुँच किये हुए काम, और कही हुई बात तक है। काम करने से पूर्व और बात कहने से पूर्व जो इच्छा मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होती है उसके मर्यादित होने के लिये दैविक

नियम ही आवश्यक और अनिवार्य हैं। हृदय जगत् में केवल ईश्वर का साम्राज्य है। हृदय में आत्मा और परमात्मा दोनों का समन्वय है। संसार में मानव का हृदय ही वह स्थान है जहाँ आत्मा और परमात्मा दोनों विराजते हैं। अन्दर की दशा ठीक करने के लिये दैविक नियम और मर्यादाओं को समझना होगा। ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करना होगा और उसकी आज्ञाओं को जानना और मानना और और पालन करना होगा। मनुष्य की मानसिक अवस्था यदि ठीक करनी है या दूसरे शब्दों में यदि आन्तरिक परिवर्तन लाना है तो दैविक नियमों की अवहेलना नहीं की जा सकेगी। अवहेलना बहुत हानिकारक सिद्ध होगी, यदि यह भावना अस्थाई रूप धारण करले कि ईश्वर का न्याय अटल है, और वह व्यापक और रचयिता है उसके प्रभाव से कोई बच नहीं सकता, और उसके न्याय से कोई छिप नहीं सकता तो विचार ठीक होंगे। दूसरे शब्दों में संकल्प-विकल्प ठीक होंगे और उनको मर्यादित करने का यही एक मौलिक उपाय है। ईश्वर की उपासना, ईश्वर की सत्ता में विश्वास, दैविक नियमों के समझने में बहुत सहायक हो सकते हैं। ईश्वर की उपासना से अभिप्राय ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभावों को समझना है। ईश्वर की स्तुति ईश्वर से प्रार्थना दोनों ईश्वर के गुण और स्वभाव को समझ लेने के लिये हैं। जब ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव को समझ कर अपने गुण कर्म स्वभाव को ठीक करने के लिये यही एक अचूक विधि है। यदि हमारे गुण कर्म स्वभाव ठीक होंगे तो हम ईश्वर के उपासक सच्चे शब्दों में बन सकेंगे। यदि हमारे गुण-कर्म स्वभाव ईश्वर के गुणकर्म स्वभावों के प्रतिकूल हैं तो हम ईश्वर के उपासक नहीं समझे जा सकते। ईश्वर के मानने वाले होकर भी हमारी दशा न मानने वालों से भी अधिक शोचनीय और दुखमय होगी। चरित्र शब्द का सम्बन्ध मनुष्य के पूरे जीवनचर्य से है, जिस प्रकार मनुष्य चलता है कर्म करता है वह उसके बाहर का चरित्र है, यह चरित्र केवल उसके जीवनचर्या का एक भाग है, शेष सब विभाग उसकी आन्तरिक दशा से सम्बन्ध है। मनुष्य की विशेषता उसका बुद्धि

मान होना है उसके जीवन की परिभाषा संकल्प और विकल्प करते रहना है, बुद्धि उसे विशेष रूप से प्रदान हुई है बुद्धि का उद्देश्य ऐसा ज्ञान प्राप्त करना है जिससे कर्म और भोग दोनों मर्यादित हों। आन्तरिक शुद्धि के लिये बुद्धि का पवित्र होना भी अनिवार्य है और बुद्धि की पवित्रता ज्ञान की पवित्रता पर आश्रित है। बुद्धि की पवित्रता के लिये ज्ञान पर अंकुश लगाना बहुत आवश्यक है। ईश्वर ज्ञान का आदि श्रोत है। मनुष्य के ज्ञान का वह निमित है। जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त करते समय या ज्ञान का प्रयोग करते समय ईश्वर अर्थात् आदि श्रोत को भूल जाता है तो उसका ज्ञान दूषित व अपूर्ण हो जाता है और दुषित ज्ञान से ही दूषित कर्म हो जाते हैं, ज्ञान की पवित्रता आन्तरिक शुद्धि के लिये हर प्रकार से आवश्यक है।

ईश्वर संसार के सब पदार्थों का रचयिता अर्थात् रचना का निमित्त है और आदि मूल है। आन्तरिक शुद्धि को अस्थाई रूप देने के लिये यह आवश्यक है कि जिस प्रकार ज्ञान को प्राप्त करते या प्रयोग में लाते समय हम ईश्वर को आदि श्रोत के रूप में अपने सम्मुख रक्खें उसी प्रकार कर्म करते समय भोग करते समय ईश्वर को आदि मूल के रूप में हमें अपने सम्मुख रखना अनिवार्य है। ज्ञान और कर्म जीवन के दो मुख्य और मौलिक रूप और अंग हैं। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध ज्ञान और कर्म के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है और यदि मनुष्य का ज्ञान और उसका कर्म ईश्वर को आदि श्रोत और आदि मूल मानकर पवित्र और मर्यादित बन जावे तो आन्तरिक शुद्धि सर्वाङ्गपूर्ण रूप से होगी और इस सर्वाङ्ग पूर्ण आन्तरिक शुद्धि का ही नाम चरित्र निर्माण और उसकी रूप-रेखा है।

४—चरित्र और समाज कल्याण

समाज कल्याण का वास्तविक स्वरूप

उत्तर प्रदेश की राष्ट्रीय सरकार ने समाज कल्याण के नाम से एक पृथक विभाग की स्थापना की है और यह एक बड़ा शुभ और

आवश्यक कार्य हुआ है। इस विभाग के अन्तर्गत सम्प्रति चार कार्य किये जाने का प्रयास हो रहा है। अर्थात् भिक्षा वृत्ति का निराकरण, वैश्या वृत्ति का निरोध, असहाय और अनाथ बालकों का सुधार, और महिलाओं का उत्थान यह सब कार्य समाज के लिये आवश्यक और कल्याणकारी हैं। परन्तु वास्तविक विभाग का लक्ष्य और उद्देश्य मेरी सम्मति में चरित्र निर्माण होना चाहिये। कल्याण का सम्बन्ध है वाह्य परिस्थिति से और वाह्य परिस्थिति में जो अकल्याण या दुःख दृष्टिगोचर होता है उस का सम्बन्ध व्यक्तियों के चरित्र से हैं। जब एक दूसरे से हाल पूछता है तो प्राचीन प्रथा यह है कि हाल के साथ चाल भी पूछा जाये, हाल चाल दोनों साथ-साथ पूछे जाते हैं। व्यक्तियों के समुदाय का नाम समाज और राष्ट्र है। समाज का हाल उसके सुख-दुःख की व्यवस्था व्यक्तियों के चरित्र पर निर्भर रहेगी।

वेश्या वृत्ति का सम्बन्ध व्यक्तियों की दूषित काम वासना से है और दूषित काम वासना का सम्बन्ध उन के रहन-सहन, खान-पान, और मनोरंजन की विधि से है। यदि नशेबाजी, मांस भक्षण, गन्दे चलचित्रों का प्रर्दशन प्रचलित रहेगा तो स्त्री और पुरुष दोनों दूषित काम वासना से घिरे हुए रहेंगे, प्रभावित रहेंगे, और जब तक कारण का निराकरण नहीं होगा उस समय तक केवल कार्य की ओर ध्यान देने से वास्तविक सफलता नहीं हो सकती। इस विभाग की ओर से काम वासना के निराकरण के लिये एक तीव्र आन्दोलन होना चाहिये। और इस क साथ ही जो वर्तमान में वैश्यायें हैं उन के लिये आश्रम खोलकर उन को शिक्षा देकर उनके विवाह का प्रब्बन्ध करके उनको ठीक मार्ग पर लाना चाहिये। सबसे पहले एक कानून यह बनना चाहिये कि स्त्री और पुरुष का समागम बिना विवाह के दण्डनीय है। जब तक इस प्रकार का कानून नहीं बनेगा उस समय तक यह कुप्रथा चलती रहेगी और वास्तविक सुधार नहीं होगा। दूषित अर्थ वासना का सम्बन्ध भिक्षा वृत्ति, चोर बाजारी, बेईमानी, रिश्वत लेने-देने से है, बिना परिश्रम किये अर्थ सञ्चय की अभिलाषा कभी तो जुआ का रूप ले लेती है और कभी भिक्षा वृत्ति का।

दोनों दशाओं में अर्थ की भावना को मर्यादित करना आवश्यक है। इस युग में अर्थ सञ्चय के नाम पर बड़ा अनर्थ हो रहा है। भिक्षा वृत्ति के निराकरण का अचूक उपाय यह है कि भिक्षा वृत्ति के विरुद्ध कानून बनाया जाये, जो असहाय और अपाहिज भिक्षुक हैं उनके निवास के लिये प्रबन्ध हो और जो स्वस्थ्य हैं परिश्रम कर सकते हैं परन्तु दूषित मनोवृत्ति के कारण भिक्षा माँगते हैं उनके लिये व्यवसाय का प्रबन्ध होना चाहिये। अर्थ की मर्यादा के लिये भी चरित्र निर्माण की ही आवश्यकता है। महिलाओं और असहाय बालकों का प्रबन्ध भी उसी समय हो सकेगा जब संगठित रूप से कार्य किया जाये। प्रत्येक जिले में समाज कल्याण समितियाँ बनाई जायें जो रजिस्टर्ड हों जिनमें सरकारी और प्रजा के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। इन समितियों में जो जनता से दान प्राप्त होता है वह भी स्वरक्षित रक्खा जाये और मर्यादापूर्ण व्यय हो। प्रान्त में दान की मात्रा की कमी नहीं उसके सदउपयोग में लाने की कमी है। समिति की ओर से सार्वजनिक कोष की स्थापना हो जाये और उस में दान जमा हो और समिति के द्वारा नियम पूर्वक व्यय हो।

यह भी आवश्यक है कि समाज सुधार के जो कार्य भिन्न-भिन्न विभागों द्वारा हो रहे हैं उन सबको समाज कल्याण विभाग के अन्तर्गत केन्द्रित कर दिया जाये। मद्यपान निषेध, समाजोत्थान, अपराध निरोध, भ्रष्टाचार निरोध यह सब कार्य समाज कल्याण के ही रूप हैं। इन सब को समाज कल्याण विभाग के अन्तर्गत हो जाना आवश्यक है। इस विभाग का उद्देश्य मानव निर्माण होना चाहिये। यदि इस का नामकरण **मैनकलचर डिपार्टमेण्ट** कर दिया जाय तो उपयुक्त होगा। मैनकलचर अर्थात् मानव निर्माण और समाज कल्याण परस्पर में सम्बन्धित हैं। यदि मानव निर्माण होगा तो समाज कल्याण स्वयमेव हो जायेगा। और जो समस्यायें राष्ट्र के सन्मुख हैं उनका समाधान शीघ्र ही हो जायेगा। तीन मुख्य काम हैं जिनकी ओर सबसे पहले ध्यान देना है। भिक्षा वृत्ति और वैश्या वृत्ति के विरुद्ध कानून

बनाना और समाज कल्याण समितियों की नियम पूर्वक स्थापना जिनके द्वारा दान की प्राप्ति और दान का सद्उपयोग नियम पूर्वक हो सके। अब तक जो कार्य हुआ है उस कार्य को स्थायी रूप देने के लिये ऊपर लिखी बातों को ध्यान देना आवश्यक है। मैंने अपने लम्बे अनुभव से जो आवश्यक समझा उसकी ओर विभाग के संचालकों का ध्यान आकर्षित किया है। मैं यह अनुभव करता हूँ कि समाज सुधार की समस्या पर मौखिक रूप से विचार होना चाहिये और व्यक्तियों के निर्माण पर बल देते हुए समाज निर्माण का कार्य पूरा करना चाहिये। पाप के निराकरण से दुःख का निराकरण पूर्ण हो जायेगा।

५—समाज कल्याण में नवीन विचार धारा

राष्ट्रीय सरकार की सत्ता नागरिकों के कल्याण के लिये है। जिस प्रकार से नागरिक अधिक से अधिक सुख प्राप्त कर सकें और भय और चिन्ता से मुक्त रहें उसकी रूपरेखा निर्धारित करना राष्ट्रीय सरकार का मुख्य उद्देश्य है। और सुख प्राप्ति के लिये सुविधा प्राप्त करने के लिये खाना, कपड़ा, रहने के लिये मकान सभी आवश्यक हैं। इनके लिये प्रबन्ध होना ही चाहिये। खाने के लिये खाद्य पदार्थों की वृद्धि एक पवित्र और आवश्यक उद्देश्य है। कपड़े की आवश्यकता को पूरा करने के लिये कपड़े का उत्पादन बढ़ाना अनिवार्य है। मकानों की सुविधा भी होनी ही चाहिये। इनके साथ-साथ शिक्षा का प्रबन्ध भी आवश्यक है। ऊपर लिखे साधनों से सुविधायें प्राप्त होंगी। सुविधा के साथ-साथ स्वरक्षा भी अनिवार्य है। स्वरक्षा के लिये पुलिस और सेना की आवश्यकता है। इन सारे कार्य और व्यवहारों में व्यक्ति का एक प्रमुख स्थान है। यदि केवल खाने की मात्रा बढ़ाई गई और उसके साथ खाने वालों को मर्यादित नहीं किया गया और उनको यह नहीं सिखाया गया कि क्या खायें, कितना खायें और किस विधि से खायें। केवल अपनी इच्छा को लक्ष्य में रखकर न खाये दूसरों की आवश्यक-

ताओं को भी लक्ष्य में रक्खें। इसके लिये केवल पेट भरने का प्रश्न नहीं। पेट भरने के साथ नियत भरने का भी प्रबन्ध होना चाहिये कि यदि केवल पेट भरने पर ध्यान रक्खा गया और नियत पर ध्यान न दिया गया तो इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि रोमन साम्राज्य में खाने की मर्यादा नष्ट होने के कारण सारा साम्राज्य नष्ट हो गया। खाने में स्वास्थ्य, और स्वाद दोनों दृष्टिकोण सामने होने चाहिये परन्तु यदि केवल स्वाद पर ध्यान रहा और स्वास्थ्य की ओर ध्यान न दिया गया तो खाने की मात्रा पर्याप्त होते हुए भी नागरिकों का स्वास्थ्य और चरित्र दोनों दूषित हो सकते हैं। यदि खाने और पीने में अंकुश न रहा तो उत्तेजित पदार्थों के प्रयोग से मानसिक व्याकुलता और उसके परिणाम स्वरूप दूषित चरित्र प्रचलित हो जायेगा। इसी प्रकार कपड़े का प्रश्न है। यदि कपड़े के साथ सादगी और अपने देश का कपड़ा होने की भावना उत्पन्न न की गई तो कपड़े की वृद्धि होते हुए भी फैशन और फिजूलखर्ची के चक्कर में पड़कर कपड़ा अधिक होते हुए भी नागरिक कपड़े की कमी को अनुभव करेंगे कमी के कारण विलाप करेंगे और चमकीले, भड़कदार, कपड़ों के फेर में धन नष्ट करेंगे और इस प्रकार धन व्यय हो जाने पर फिर इस धन की कमी को भ्रष्टाचार से पूरा करेंगे।

कपड़ा शानदार हो, भड़कदार हो, चाहे चोरी करनी पड़े चाहे रिश्वत लेनी पड़े यह भावना प्रचलित होगी। रहने के मकानों के सम्बन्ध में भी यही विचार धारा आवश्यक है। साधारण नागरिकों के मकान सुविधा, स्वरक्षा, स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से बनने चाहिये। यदि ऊँचे-ऊँचे मकान बड़ी-बड़ी हवेलियाँ केवल शान और मान के लिये बनाने और बनवाने की प्रथा प्रचलित हुई तो मकानों की संख्या में वृद्धि होते हुए भी मकानों की त्रुटि और कमी अनुभव होती रहेगी। दूसरे शब्दों में खाना होते हुए भी नागरिक भूखे रहने की और कपड़ा होते हुए भी नंगा रहने की, और मकान होते हुए भी बड़ा मकान न होने की भावना से चिन्तित और दुखित रहेंगे। इसलिये वास्तविक कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि जहाँ अभाव के निराकरण का प्रबन्ध हो

वहाँ भावना के सुधार का भी प्रबन्ध होना चाहिये। यदि भावना दूषित है तो अभाव का निराकरण कभी नहीं हो सकेगा। अभाव के स्थान में भाव प्रस्तुत किया जायेगा परन्तु वह भाव दूषित भावनाओं के कारण पुनः अभाव का ही रूप धारण कर लेगा इसी प्रकार शिक्षा का प्रश्न भी विचारने योग्य है। शिक्षा केवल ज्ञान की वृद्धि का नाम नहीं। शिक्षा केवल अक्षर बोध नहीं है। शिक्षा के साथ भी वही प्रश्न है जो भोजन के साथ है। शिक्षा मानसिक भोजन है। उसमें भी स्वास्थ्य और स्वाद दोनों पर ही दृष्टि रखनी होगी। जिस प्रकार उत्तेजना उत्पन्न करने वाली खाने और पीने की चीजें स्वास्थ्य और स्वभाव के लिये हानिकारक हैं इसी प्रकार गन्दी कहानियाँ, गन्दे गाने, उत्तेजना उत्पन्न करने वाली कवितायें, चरित्र को दूषित करने वाले सिनेमा, भड़काने वाले अखबार, काम की भावना उत्पन्न करने वाले उपन्यास, यह सब शिक्षा की आड़ में नागरिकों को नाश की ओर ले जाने वाले होंगे। समाज कल्याण को अधिक बल भावनाओं के पवित्र बनाने पर, स्वभाव को मर्यादित करने पर देना चाहिये। अभाव के निराकरण का कार्य निर्माण विभाग, कृषि विभाग, और उद्यान विभाग आदि करेंगे। समाज कल्याण विभाग तो भावना और स्वभाव से ही सम्बन्धित रहना चाहिये। इसी प्रकार अपराधियों को पकड़ने उनको दण्डित कराने का काम पुलिस का है। समाज कल्याण विभाग इसलिये है कि नागरिकों के अन्दर अपराध की भावना उत्पन्न न होने पावे और यदि उत्पन्न हो गई है तो उनके मानसिक जगत की अवस्था इस प्रकार करदी जावे कि अपराध होने ही न पाये जितने कम अपराध होंगे उतना ही कम खर्च न्याय विभाग, पुलिस विभाग, और जेल विभाग में होगा और जो रुपया बचेगा वह सब चरित्र निर्माण के प्रचार में लग सकेगा। सबसे अधिक आवश्यक यह है कि माताओं को अच्छे स्वभाव वाली और अच्छी भावना वाली बनाना चाहिये। माताओं के गर्भ और गोद में ही बालकों का निर्माण होता है वहाँ ही पूरा ध्यान देना चाहिये। यदि मातायें राजनीति और अर्थशास्त्र के चक्कर में पड़ गईं तो न उनके गर्भ की मर्यादा रहेगी और न गोद की स्वरक्षा।

और जिस देश में माताओं का गर्भ और गोद मर्यादित नहीं होता वहां के नागरिकों का गौरव नष्ट हो जाता है। केवल इस पर बल नहीं देना चाहिये कि माताओं को, बहनों को अधिक नौकरियाँ, अधिक मेम्बरी मिले। माताओं के जीवन का लक्ष्य देश के लिये अच्छे नौकर, अच्छे, मेम्बर, अच्छे मिनिस्टर और अच्छे वोटर उत्पन्न करना है। यदि वह स्वयं इन चक्करों में पड़ेंगी तो भावी नागरिक उत्तम बनने की मर्यादा नष्ट हो जायेगी। सम्भव है मेरे इस विचार से माताएँ और बहनें असन्तुष्ट हों मेरे यह विचार उनको अच्छे न लगें। वह अपने अधिकारों में इसको हस्तक्षेप समझें परन्तु समाज कल्याण का प्रश्न अधिकार प्राप्ति से इतना सम्बन्धित नहीं है जितना कर्तव्य पालन से है। यदि नागरिक कर्तव्य पालन करने की ओर ध्यान देंगे तो उनको अधिकार भी प्राप्त होगा परन्तु जो अधिकारों की प्राप्ति की आँधी चल रही है वह दूर हो जायेगी। अधिकारों के लिये संघर्ष, अधिकारों के लिये लड़ाई, एक दूसरे पर आक्षेप, एक तीव्र आन्दोलन, यह सब दूर हो सकते हैं यदि समाज कल्याण विभाग इस ओर विशेष रूप से ध्यान दे। डाक्टर शारीरिक रोगों की चिकित्सा करेंगे और उनका यह कर्तव्य है परन्तु मानसिक रोगों की चिकित्सा का कार्य समाज कल्याण विभाग का है। मानसिक रोग से अभिप्राय दूषित स्वभाव, बुरी आदतें और दूषित चरित्र से है। इनका सीधा सम्बन्ध मानव के मन और हृदय से है। मानव का मन व्यक्ति के सारे शरीर का और दिमाग का संचालक है, और यदि मन की व्यवस्था ठीक हुई तो शारीरिक स्वास्थ्य अपने आप ठीक रहेगा और भावनायें भी ठीक रहेंगी। और अभाव, अन्याय और अज्ञान का वास्तविक निराकरण हो सकेगा। समाज कल्याण को इस ओर ध्यान देना चाहिये। सब विभागों को मानव निर्माण और मानव उत्थान के लिये मौलिक विचार प्रस्तुत करता रहेगा। सबके लिये आवश्यक मौलिक विचार देना इस विभाग का कार्य होगा। और यदि इस विभाग से शुद्ध, पवित्र विचार प्रचलित

होते रहेंगे तो अन्य सब विभाग भी मर्यादित रहेंगे। यदि इंजीनियरिंग विभाग को ईमानदार इंजीनियर और ठेकेदार नहीं मिले तो उसकी व्यवस्था समाज कल्याण द्वारा होगी।

६—चरित्र निर्माण सम्बन्धी मौलिक विचार धारा

चरित्र निर्माण की समस्या पर मनोविज्ञान की दृष्टि से निम्नलिखित दृष्टिकोण से विचार हो सकता है।

(१) हाल-चाल—

जब दो मित्र या एक दूसरे को जानने वाले, एक दूसरे से मिलते हैं तो एक दूसरे से हाल-चाल पूछते हैं। हाल से अभिप्राय अवस्था से है, अर्थात् इस प्रश्न का लक्ष्य यह होता है कि क्या उनको स्व-रक्षा, सुख, शान्ति और तृप्ति प्राप्त है। इस हाल के शब्द के साथ ही चाल शब्द जुड़ा हुआ है। चाल का अभिप्राय है चलन, कर्म व्यवस्था और व्यवहार की मर्यादा। हाल की व्यवस्था चाल से सम्बन्धित है। जब तक चाल पर ध्यान नहीं होगा, हाल ठीक नहीं हो सकता। सम्प्रति यह प्रथा है कि हाल को ठीक करने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं परन्तु चाल की ओर ध्यान नहीं है। जब दैविक आपत्तियाँ आती हैं अर्थात् बाढ़ें, भूचाल और अन्य दैविक दुर्घटनायें आती हैं उस समय उनसे बचने के लिये उपाय किये जाते हैं परन्तु व्यक्तियों और समाज के चरित्र या चाल पर ध्यान नहीं दिया जाता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कारण का निराकरण न करके, कार्य की ओर ध्यान दिया जा रहा है जिससे आशायें पूरी नहीं होतीं। प्राचीन पद्धिति यही रही है कि हाल के साथ चाल पर भी ध्यान होना चाहिये। अंग्रेजी पृथा के अनुसार भी जब मित्रों का मिलन होता है तो उनसे यह पूछा जाता है How do you do ? जिसका अर्थ यह है कि आप क्या करते हैं। दूसरे शब्दों में उसकी परिभाषा यह होती है How are you ? अर्थात् जैसा कर्म होगा या व्यवहार होगा वैसा ही

परिणाम होगा । उत्तर में भी यह कहा जाता है कि I am alright (आई एम आल राइट) अर्थात् मैं बिल्कुल ठीक हूँ। इसका अभिप्राय यह होता है कि कहने वाला उत्तर देते समय अपने चलन और कार्य-प्रणाली पर दृष्टि डालते हुए, उत्तरदायित्व से यह कहता है कि मैं बिल्कुल ठीक हूँ। केवल रिवाज के लिये ऊपर के मन से यह कह देना कि मैं बिल्कुल ठीक हूँ असत्य है, उचित नहीं है यदि उत्तर देने वाला बिल्कुल ठीक नहीं है तो उसको समझ कर यह कहना चाहिये कि मैं कुछ ठीक हूँ, कुछ ठीक नहीं हूँ। या बिल्कुल ठीक नहीं हूँ। यदि यह पृथा केवल रुढ़िवाद के रूप में रही तो चरित्र का सुधार नहीं हो सकेगा । प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दिनचर्या पर और अपने कार्यों पर हर समय दृष्टि रखनी चाहिये। कम से कम रात को सोते समय तो अपने दिन भर के कार्यों पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये जिससे यदि उनमें कोई त्रुटि हो तो उन पर विचार कर लिया जाये। दैविक आपत्तियों के समय और अन्य प्रकार के क्लेशों के समय व्यक्तियों और नागरिकों में एक प्रकार का कोलाहल मच जाता है। अशान्ति का साम्राज्य हो जाता है । कभी-कभी तो ईश्वर की न्याय-व्यवस्था में विश्वास नहीं रहता और कभी ऐसी दशा भी आ जाती है कि ईश्वर की सत्ता में भी विश्वास नहीं रहता। होना यह चाहिये कि आपत्ति के समय हम ईश्वर को और उसकी न्याय-व्यवस्था को ध्यान में रखें तो महान् दुःख में भी कुछ सन्तोष प्राप्त होगा और हम अपने को ही अपनी दुखित अवस्था का उत्तरदाता समझेंगे। यदि अपने अन्दर की दशा पर ध्यान न दिया गया तो बाहर की दशा पर विलाप, शोक-प्रदर्शन व्यर्थ और निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगा। जब व्याकुल और दुखित होकर मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि 'जब मैं कहता हूँ कि अब तो मेरा हाल देख', वह यह कहता कि 'अपना नामए एमाल देख' अर्थात् जब व्यक्ति ईश्वर से अपने दुःख की चर्चा करता है प्रार्थना करता है तो ईश्वर उसे चेतावनी देता है कि तू ही अपने दुखों का कारण है, तुझे मुझ से याचना करने से पूर्व अपने कर्तव्य-कर्मों पर ध्यान देना चाहिये। जब नदी में बाढ़ आती है या तूफान आता है, नाव मझधार

में डूबने लगती है तो कभी नौका को, कभी नदी को, कभी नौका के चलाने वाले को, दोष दिया जाता है। नाव में बैठने वाला, यह नहीं सोचता कि इस आपत्ति में पड़ जाने का उत्तरदायित्व स्वयं एक रूप से उस पर ही है। यदि वह बच जाये तो उसको इस दुर्घटना से चेतावनी लेनी चाहिये। इसी प्रकार जब राष्ट्र में कुप्रबन्ध होता है और उस कुप्रबन्ध के कारण प्रजा को कष्ट होता है तो प्रजा मन्त्रियों को दोष देती है, मन्त्री प्रजा को और दोनों विधान को। उनकी दृष्टि अपनी ओर न जाकर बाहर की ओर और दूसरे की ओर रहती है। कारण का पता नहीं लगता और न उसका निराकरण होता है और इसलिये कार्य भी ठीक नहीं होता।

(२) आन्तरिक अंकुश—

चरित्र निर्माण का आन्तरिक अंकुश से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह एक प्रसिद्ध कहावत है कि वह संचालन सबसे अधिक उत्तम है जिसमें सबसे कम संचालन की रोक-टोक की आवश्यकता होती है। जिस राष्ट्र या समाज के अंग स्वयमेव मर्यादित रहते हैं वह स्वयं अपना कर्तव्य पालन करते रहते हैं। उनको पथ-भ्रष्ट होने से जितनी चेतावनी की आवश्यकता है वह चेतावनी उनको अपने अन्दर से अपने स्वाभाव से प्राप्त होती रहती है। जिस कारण से और जिस साधन से चेतावनी प्राप्त हो उसका ही नाम अंकुश या ब्रेक या प्रतिबन्ध अथवा रोक-थाम है।

आन्तरिक अंकुश के महत्व को समझने के लिये हम अपने जीवन से कई प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

(३) तेज वाहन—

आजकल के युग में तेज शीघ्रगामी वाहनों का बड़ा महत्व है। देश और काल पर विजय प्राप्त करने के लिये तेज वाहनों का आविष्कार हुआ है। परन्तु हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि जितनी प्रगतिशील सवारी होगी उतना ही बलयुक्त उसमें ब्रेक होना चाहिये।

(४) बिना ब्रेक की मोटर—

मोटर की शक्ति की नाप-तोल घोड़ों की शक्ति शब्दावली में प्रगट की जाती है। मोटर १० अश्व शक्ति और उससे अधिक अश्व शक्ति की होती है, परन्तु यह बात मोटरों के निर्माण में बड़ी आवश्यक है कि जितनी अधिक अश्व शक्ति या गति की शक्ति हो उतनी ही मजबूत ब्रेक होनी चाहिये। यदि ब्रेक ढीला होगा या उसमें जंग लगा हुआ होगा या समय पर काम न देने वाला होगा तो मोटर के चलाने में और मोटर के रोकने में कठिनाई होगी और मोटर में बैंठने वालों की, हाँकने वालों की, मोटर के सम्पर्क में आने वालों की सुरक्षा मर्यादित न रह सकेगी। जिस प्रकार मोटर के लिये मजबूत ब्रेक आवश्यक है इसी प्रकार हर एक व्यक्ति के लिये यदि उसमें धन बल, जन बल, ज्ञान बल, शारीरिक बल की वृद्धि हो तो उस बल को प्रयोग में लाने के लिये आन्तरिक अंकुश और ब्रेक भी मजबूत होना चाहिये। इस मानव शरीर रूपी मोटर का स्टीयरिंग वील अर्थात संचालन का साधन यह मन है और इसका ड्राइवर आत्मा है। ड्राइवर और संचालक पहिए के बीच में ब्रेक होना आवश्यक है। इस शरीर रूपी मोटर में दैविक आदेश उस ब्रेक के समान है जो हाँकने वाली आत्मा को मानसिक शक्ति को प्रयोग में लाने के लिये समय-समय पर सचेत, सावधान और मर्यादित करता रहता है। यदि हर प्रकार के बलों को बढ़ाने की चिन्ता की गई और बल प्राप्त कर लिये गये और उनके प्रयोग पर ध्यान नहीं दिया गया तो यह सब प्रकार के बल प्राप्त हो जाने पर भी वास्तविक रूप से निर्बलता के कारण बनेंगे और बन रहे हैं।

अंकुश के महत्व को ध्यान में रखने के लिये हमें यह बात समझनी है कि जब पशु सम्पर्क में आते हैं तो उन पर अंकुश अनिवार्य होता है। घोड़े के लिये लगाम, बैल के लिये नाथ, ऊँट के लिये नकेल, और हाथी के लिये अंकुश अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। उनको प्रयोग में लाने से पूर्व सिखाया जाता है, लगाम के वशीभूत चलना सिखाया जाता है, ऊँट को नकेल के इशारे पर चलना, बैठना, और खड़े होना

सिखाया जाता है। उसके पश्चात् उसको प्रयोग में लाया जाता है। मनुष्य के लिये भी यह आवश्यक है। प्राचीन काल से शिक्षा व दीक्षा और संस्कार आन्तरिक अंकुश की मर्यादा के लिये प्रचलित थे।

(५) जीवन रूपी यात्रा—

मनुष्य के जीवन को यात्रा के रूप में वर्णन किया गया है और जीवन को एक जन पथ या राज पथ के रूप में दर्शाया गया है, यात्रा के लिये नियम बहुत आवश्यक हैं, यात्रा आरम्भ करने से पूर्व लक्ष्य निर्धारित होना है, मार्ग साधन निर्धारित होने हैं। कहाँ जाना है, क्यों जाना है, कैसे जाना है, यह सब प्रश्न पहले समाधान हो जाने चाहिये, तब चलने का प्रश्न होना चाहिये। मुँह उठाये चल देना, बिना विचारे पग उठा लेना ठीक नहीं है।

(६) यह सड़क कहाँ को जा रही है—

किसी ने किसी से पूछा, कि यह सड़क कहाँ को जा रही है, उसने उत्तर दिया यह सड़क कहीं नहीं जा रही, इस पर जाने वाला जहाँ चाहे जा सकता है। सड़क एक चलती फिरती चीज नहीं, सड़क अस्थाई सत्ता रखती है उसको मर्यादित रखने से ही यात्रा सफल और स्वरक्षित रह सकती है। दायें-बायें का ख्याल रखना होगा, पीछे कान खुले हुए रखने होंगे, आगे आँख खोल कर चलना होगा, दिमाग को एकाग्र करके चलना होगा चलने में मनमानी नहीं हो सकती, जो चलने में मनमानी करता है वह विचल हो जाता है कुचल जाता है। एक पुस्तक में रूस की एक घटना का इस प्रकार उल्लेख था :—

रूस को सन् १९१७ में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् वहाँ की एक महिला सड़क के बीच में चलने लगी, सिपाही ने उस महिला से कहा "देवी जी बीच में मत चलो, एक ओर चलो" देवी जी ने उत्तर दिया "रूस स्वतन्त्र हो गया है मैं भी स्वतन्त्र हूँ, मैं जहाँ चाहूँ चल सकती हूँ।" सिपाही ने देवी जी से कहा कि देश स्वतन्त्र हो गया है, मोटर हाँकने वाला भी स्वतन्त्र है, वह जहाँ चाहे हाँक सकता है। न हॉर्न बजाये और न ब्रेक लगाये। इसका परिणाम यह होगा कि

स्वतन्त्र देश में स्वतन्त्रता के नाम पर चलने वाला यात्री, और वाहन का हाँकने वाला दोनों मन मानी करें तो अन्तिम परिणाम यह होगा कि स्वतन्त्र चलने वाला मर कर कब्र में जायेगा और हाँकने वाला गिरफ्तार होकर जेल या बन्दी गृह में पड़ेगा।

स्वतन्त्रता से अभिप्राय यह नहीं है कि मनचाहा किया जाये, इस का अभिप्राय है कि जो चाहिये वह करना।

(७) रेल से शिक्षा—

रेलों में बैठने के लिये गाड़ियाँ और उनको चलाने के लिये इंजन होते हैं। यदि गाड़ियाँ सुन्दर और अच्छी हों और इन्जन भी बड़ी ताकत वाले हैं तो यात्रा बड़ी कुशल हो सकती है परन्तु यदि ड्राइवर अर्थात् ट्रेन का चलाने वाला अनुभव शून्य अशिक्षित मदमस्त हो तो बहुत शक्तिशाली इंजन महान हानि के कारण बन सकते हैं। ड्राइवर को समय-समय पर चेतावनी देने के लिये और गाड़ी की रक्षा के लिये गार्ड भी आवश्यक है। रेल में बैठने के नियम हैं, प्रवेश के नियम हैं, उतरने के नियम हैं। इनमें से यदि किसी नियम की भी अवहेलना हुई तो यात्रा सफल व कुशल नहीं हो सकती है। रेल दो पटरियों पर चलती है यदि दोनों पटरियों पर चली जाये लक्ष्य तक पहुँच सकती है परन्तु किसी एक पर भी डूल हो जाने से, पटरी से नीचे उतर जाने से रेल आगे नहीं बढ़ सकेगी और पीछे आने वालों के लिये भी बाधक बन जायेगी। मनुष्य जीवन रूपी रेल में ज्ञान और कर्म, इलम और अमल दो पटरियाँ हैं, दोनों में समन्वय रख कर ही जीवन रूपी यात्रा सफल ही सकती है। यदि ज्ञान और कर्म में समन्वय न होगा तो चरित्र निर्माण नहीं हो सकता और जीवन का उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सकता।

(८) जीवन रूपी साइकिल—

आजकल के सभ्य जगत में बाइसिकिल का बड़ा प्रयोग है। ग्रामों में भी इनका समावेश हो गया है। साईकिल की निर्माण व्यवस्था को देखकर अपने चरित्र के लिये एक उत्तम शिक्षा प्राप्त हो सकती है।

साइकिल में दो पहिए हैं उनके ऊपर एक बैठने का स्थान और सामने ब्रेक। बाइसिकिल के दोनों पहियों में यदि समन्वय नहीं होगा तो बाइसिकिल काम नहीं दे सकती। सीट पर बैठने वाले को बैलेंस करना सीखना है। अर्थात् सँभल कर बैठना सीखना है। यदि बैठने वाला, पहियों को तरह हिलता रहा तो गिरने का भय रहेगा, बैठने में दृढ़ता होनी चाहिये। पैरों के चलाने में मर्यादा और ब्रेक के प्रयोग में सावधानी। बाइसिकिल से पुरुषार्थ की भी बहुत बड़ी शिक्षा मिलती है। बाइसिकिल पर सवार होते ही चल पड़ने की आवश्यकता है। इसी प्रकार जीवन में ज्ञान बल और कर्म बल को प्राप्त करके उनको प्रयोग में मर्यादा-पूर्वक लाना है और समय-समय पर चेतावनी से लाभ उठाते रहना है।

(९) हवाई जहाज—

विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य को आकाश में उड़ने की भी शक्ति प्रदान कर दी है। हवाई जहाज की निर्माण व्यवस्था से बड़ी उत्तम शिक्षा मानव चरित्र के लिये मिलती है। पृथ्वी में आकर्षण है, पृथ्वी से वही ऊपर उड़ सकता है जो इस आकर्षण के आक्रमण से बच सकता है। आकर्षण से बचने के लिये हवाई जहाज में दोनों ओर दो पंख होते हैं। जब जहाज को पृथ्वी से ऊपर उठना होता है तो इन्जन अन्दर की शक्ति से दोनों पंखों के सहारे आकर्षण के संघर्ष को मर्यादित करता हुआ, ऊपर उठ जाता है और यात्रा सफल हो जाने पर उन्हीं पंखों की सहायता से नीचे नियम पूर्वक उतर आता है और विश्राम करने लगता है। यदि इन्जन निर्बल होगा और पंख अमर्यादित होंगे तो हवाई जहाज की उड़ान दूसरे शब्दों में उसका उत्थान सम्भव नहीं होगा। इस जीवन में भोग पदार्थ रचित पदार्थ बड़े आकर्षक और लुभाने वाले हैं। इन्द्रियों का रुझान बाहर की ओर है यह आकर्षक भोग पदार्थ अपनी ओर खींचते रहते हैं और ऊपर नहीं उठने देते। यदि मनुष्य अपने जीवन में ज्ञान और कर्म के दोनों पंख इतने बल युक्त रक्खे मन रूपी इंजन इतना मर्यादित हो तो वह यह आशा कर

सकता है कि इनके चक्कर से बच कर दिव्य लोक में अर्थात् ज्ञान के जगत में उड़कर पहुँच सकता है। मनुष्य से देवता बनने की यही विधि है। जो तामसिक पदार्थों के प्रलोभन राजसिक भावनाओं के प्रभाव से अपने को स्वरक्षित रखता है वह सत्य लोक में पहुँच सकता है। जीवन को सात्विक बनाने के लिये यह एक सरल, सुन्दर और प्राचीन मार्ग है। केवल उड़ान की अभिलाषा करना और उडने का उद्देश्य निश्चय न करना कोई महत्व नहीं रखता। विलायत के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक और तत्ववेत्ता श्री सी० ई० एम० जोड हैं उन्होंने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि विज्ञान वालों की यह प्रशंसा अवश्य है कि वह आकाश में उड़ सकते हैं और सागर में तैर सकते हैं परन्तु यदि उन्हें जमीन पर चलना नहीं आता तो उनका उड़ना और तैरना निष्प्रयोजन ही है।

नैया पार—

जीवन रूपी नौका को भवसागर से पार करने के लिये विद्वानों के उपदेश और आप्त पुरुषों के सन्देश सदैव से मानव के लिये उपयोगी माने गये हैं। जल का सागर भी बड़ा भयानक और भय उत्पादक होता है। उससे पार होने के लिये प्रकाश कुंज, नौकायें व अभ्यास आवश्यक है। परन्तु भवसागर से पार होने के लिये अर्थात् भावनाओं के सागर से पार उतरने के लिये और मझधार में डूबने से बचने के लिये, भावनाओं को वशीभूत करने के लिये शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता है। जब मानव संसार में विकल्प और दुखित होता है और जब उसकी जीवन रूपी नौका डूबने लगती है व विषय-भोगों के चट्टानों से टकराकर चकनाचूर होने लगती है तो वह चिल्ला उठता है कि "करो पार नैया मेरी मैं डूबा जा रहा हूँ"। यदि भवसागर में अर्थात् भावनाओं के सागर में प्रवेश करने से पूर्व ही पार लगाने वाले का ध्यान हो और उसकी चेतावनी लक्ष्य में रहे तो भवसागर से आत्मा पार हो सकती है। संसार के भोग पदार्थ उसके लिये भार रूप न होकर उसके उभारने के साधन बन जायेंगे। नौका का खेने वाला

भी दोनों हाथ में नाव चलाने के हथियार या वास रखता है अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों उसको पार करने में सहायक होंगे। यदि किसी एक ओर अधिक बल हुआ तो नौका उभरती-उभरती भी डूब सकती है। नाव में बैठने वालों की और नाव चलाने वालों की असावधानी से अनेक बार डुबाने का कारण बनी है। जल का वेग और वायु का वेग तो साधारण घटनायें हैं। इस वेग से बचने के लिये आन्तरिक सावधानी की महान आवश्यकता है। जो सावधान और सचेत रहते हैं वह डुबाने से बच जाते हैं, आपत्तियों से भी शिक्षा लेकर जीवन रूपी पथ पर अग्रसर होते हैं और नदी के उस पार पहुँच जाते हैं। दूसरे शब्दों में अपने इस लोक और पर लोक को बना लेते हैं।

नैतिक स्वास्थ्य की नियमावली

चरित्र दोष या अपराधी होना एक रोगी होने के समान है। अपराध की भावना रोग के रूप में ही संशोधित और मर्यादित हो सकती है, रोग के उपचार के लिये रोग के निदान की आवश्यकता है और निदान के पश्चात् ही चिकित्सा हो सकती है, निदान के लिये यह भी आवश्यक है कि रोग किन कारणों से उत्पन्न हुआ है, जब तक रोग का कारण ज्ञात न हो और उसका निराकरण न हो उस समय तक रोग की चिकित्सा सफलतापूर्वक नहीं हो सकती।

अपराध के भिन्न-भिन्न रूप—

अपराध भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित होता है। धर्म में उसका नाम पाप है, व्यवसाय में बेईमानी, और समाज में अनुचित व्यवहार और न्यायालय में जुर्म या अपराध, अपराध के कारण निम्न प्रकार समझे जा सकते हैं।

(१) आन्तरिक भावनायें।

(२) व्यक्तिगत दुर्व्यसन, जैसे शराब पीना अन्य प्रकार का नशा करना, और जुआ खेलना।

(३) बुरों का सत्संग।

(४) शिक्षा का अभाव।

(५) प्रचलित सामाजिक वातावरण।

(६) न्याय-व्यवस्था में कुप्रबन्ध, इस कुप्रबन्ध से अभिप्राय यह है कि यदि अपराधी को यह विश्वास रहता है कि दण्ड विधान से बच सकेगा तो उसके अन्दर अपराध करने की भावना बहुत दृढ़ हो जाती है, इस कुप्रबन्ध के दो रूप हो सकते हैं, या तो कानून के आधार पर जाँच करने वालों की जाँच इतनी असावधानी से परिपूर्ण है कि अपराधी के अपराध का पता नहीं चलता या न्याय-व्यवस्था भ्रष्टाचार आदि के कारण इतनी भ्रष्ट है कि अपराधी न्याय करने वालों को व न्याय में सहायता करने वालों को घूँस देकर अपने अपराध के परिणाम से बच सकता है।

रोग के मौलिक रूप—

अपराध के मौलिक रूप समझने के लिये पतंजलि योग दर्शन में नियम और यमों की व्याख्या समझनी होगी और योग दर्शन के आधार पर अपराध के मौलिक कारण दूषित मानसिक वृत्तियाँ हैं। जिनको हम काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के रूप में समझ सकते हैं।

इन पाँचों दूषित मानसिक वृत्तियों के ही कारण सब अपराध होते हैं और यदि इनको रोग मानकर इनका उपचार यम और नियमों के आधार पर कर लिया जाये तो रोग का अस्थाई उपचार हो सकता है। अपराध या तो अन्य व्यक्तियों के शरीरों को आघात पहुँचाने के रूप में है या उनकी सम्पत्ति को हरण करने के रूप में है। जितने अपराध शरीर को आघात पहुँचाते हैं वह काम, क्रोध और अहंकार के अन्तर्गत आते हैं, सम्पत्ति की हानि पहुँचाने के रूप में लोभ और मोह उसके कारण हैं।

(१) नैतिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक साधन—

जब आदमी पाप करने की भावना अपने अन्दर रखता है तो उसके अन्दर यह भावना उसके साथ उत्पन्न होती है कि या तो वह

अपने पाप को छिपा लेगा या उसके परिणाम से बच जायेगा। यदि उसके अन्दर यह भावना दृढ़ हो जाये कि वह किसी भी दशा में अपने पाप को ईश्वर के न्याय से छिपा नहीं सकता और न उसके परिणाम से बच सकता है। ईश्वर का न्याय अटल है और उसकी सर्वव्यापकता भी अटल है। ईश्वर से सम्पर्क स्थापित करने के लिये और ऐसी दृढ़ता से स्थापित करने के लिये कि उसमें कोई बाधा उत्पन्न न हो, ईश्वर से प्रार्थना करने या उपासना करने की विधि है। प्रार्थना करने से यह भावना दृढ़ हो जाती है कि वह ईश्वर के हर समय समीप है और ईश्वर की छत्रछाया में वह अपना जीवन बिता रहा है और यही भावना नैतिक स्वास्थ्य का सबसे आवश्यक और प्रमुख अंग है।

(२) नैतिक, आन्तरिक अनुशासन की आवश्यकता—

यदि सिपाही को युद्ध में विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य प्राप्त करनी है तो उसको नित्यप्रति कवायद करनी आवश्यक है, कवायद करने से वह इस प्रकार का अभ्यासी हो जाता है कि जब शत्रु से संघर्ष आरम्भ हो तो वह भयभीत नहीं होता और अपने बल और साधनों का सावधानी से प्रयोग कर सकता है। दूसरे शब्दों में शत्रु की ओर से उसके अन्दर भय नहीं उत्पन्न होता। इसी प्रकार यदि विद्यार्थी को परीक्षा में सफलता प्राप्त करनी है तो उसको मानसिक कवायद या मानसिक अभ्यास करना होता है और इसी आधार पर हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि प्रत्येक व्यक्ति को दिन और रात में अपने जीवन-निर्वाह के अवसर पर या अपनी इच्छाओं की पूर्ति के अवसर पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार रूपी शत्रुओं से उसे युद्ध करना पड़ता है। इसके लिये यदि उसको विजयी होना है तो उसको अध्यात्मिक कवायद की आवश्यकता है। यही अध्यात्मिक कवायद ईश्वर उपासना के रूप में समझ सकते हैं। और सफल योग की प्रक्रिया भी यही है। योग अभ्यास और योग में यह भेद है। योगाभ्यास करने से मनुष्य की मानसिक वृत्तियाँ ऐसी

हो जाती हैं कि वह अपने को ईश्वर से युक्त या जुड़ा हुआ समझता है और इस अवस्था में वह ईश्वर को सहायक और द्रष्टा और न्यायकारी मानता हुआ दूषित मानसिक वृत्तियों के आक्रमण से अपने को बचा सकता है।

(३) आन्तरिक ब्रेक या अंकुश की आवश्यकता—

प्रत्येक तेज वाहन में या बलयुक्त वाहन में बलयुक्त ब्रेक या अंकुश की आवश्यकता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य के अन्दर धन बल, जन बल, बुद्धिबल या अधिकारों का बल अधिक मात्रा में हो तो उसके अन्दर उसकी प्रगति को मर्यादित रखने के लिये अंकुश की बड़ी आवश्यकता है, और यह अंकुश उसको हृदय की पवित्रता, आत्म-संयम, विवेक और वैराग्य की भावना से प्राप्त हो सकता है। नैतिक उत्थान के लिये बाही अंकुश अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते।

ऊपर लिखी तीनों भावनायें नैतिक स्वास्थ्य के लिये साधारण तथा हर व्यक्ति और हर अवस्था में उपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कुछ विशेष नियम भी नैतिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए आवश्यक हैं, वह नियम नीचे दिये जाते हैं।

(१) विद्यार्थी जीवन के लिये नैतिक स्वास्थ्य की नियमावली—

(१) ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना अर्थात् नैतिक और अध्यात्मिक नियमों के अनुसार अपनी दिनचर्या बनाना।

(२) अपने आचार्य, गुरु या अध्यापक के लिये आदर करना। इसके साथ-साथ माता-पिता के लिए भी आदर के भाव रखना और अपने से बड़ों के लिये और माननीय अतिथियों के लिये भी आदर और सत्कार के भाव रखना।

(३) परीक्षा में उत्तीर्ण होने की इच्छा से कभी अनैतिक उपायों को प्रयोग में नहीं लाना चाहिये। न परीक्षा के समय नकल करनी चाहिये न परीक्षा के पूर्व प्रश्नपत्रों के पता लगाने की चेष्टा करनी चाहिये और न परीक्षा के पश्चात् अंक बढ़वाने की चेष्टा करनी

चाहिये। यदि नकल करते समय कोई अध्यापक उसको टोकें या रोके तो विद्यार्थी को यह भावना रखनी चाहिए कि वह अध्यापक या गुरु अपना कर्तव्य पालन कर रहा है उसके साथ किसी भी दशा में दुर्व्यवहार या उद्दण्डता नहीं करनी चाहिये।

(४) सह-शिक्षा से बचना चाहिए अर्थात् लड़की और लड़कों के शिक्षालय पृथक-पृथक हों जिससे काम सम्बन्धी अनुचित विकार दोनों में उत्पन्न न हों।

(५) मनोरंजन के लिये भी बड़ी सावधानी और मर्यादा की आवश्यकता है केवल उन्हीं मनोरंजन के साधनों का प्रयोग होना चाहिये जो नैतिक और अध्यात्मिक उत्थान में सहायक हों। ऐसे सिनेमाओं या चित्रों के देखने से बचना चाहिये जिनका चरित्र पर प्रभाव अच्छा नहीं पड़ता। इसी प्रकार उपन्यास और कहानियों के सम्बन्ध में भी सावधानी आवश्यक है। गन्दे और अश्लील चित्रों से बचना चाहिये। गालियों के प्रयोग से अपने को स्वरक्षित रखना चाहिये।

(६) सादा जीवन और उच्च विचार आवश्यक हैं।

(७) केवल उद्देश्य पर ही नहीं बल्कि साधनों पर भी ध्यान रखना चाहिये।

उद्देश्य भी पवित्र होना चाहिये और उसकी पूर्ति के साधन भी पवित्र होने चाहिये।

(२) गृहस्थ जीवन के लिये नियमावली—

(१) बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह और अनमेल विवाहों से बचे रहना चाहिये।

(२) विवाह हो जाने पर भी ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना चाहिये।

(३) विवाह के अवसर पर सादा रीति का अभिलम्बन होना चाहिये, अधिक व्यय से बचना चाहिये और दहेज पृथा पर भी पर्याप्त बलयुक्त अंकुश होना चाहिये।

(४) बच्चों के लालन-पालन में नैतिक उत्थान के नियमों का ध्यान रखना चाहिए।

(५) सब प्रकार के नशों से बचे रहना चाहिए और जुए की बुरी आदत से भी बचा रहना चाहिये।

(६) उसको अपने जीवन सम्बन्धो निर्वाह में मितव्ययी होना चाहिए। हमें अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित रखना चाहिए कभी-कभी भूल से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति में दुर्व्यसन और मनोरंजन के साधन भो सम्मिलित हो जाते हैं, इससे सावधान रहना चाहिये।

व्यापार और व्यवसाय के लिये नियमावली—

(१) उत्पादन करने वालों को जो चीज वह बनाये उसको आदर्श के आधार पर बनानी चाहिये उसमें अनुचित लाभ की दृष्टि से मिलौनी नहीं करनी चाहिए।

(२) बेचने वालों को भी अनुचित लाभ की भावना नहीं रखनी चाहिए और मिलौनी नहीं करनी चाहिए।

(३) खरीददारों को भी अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। खोटे सिक्के का प्रयोग नहीं करना चाहिए और यदि उन्होंने उधार में कोई सौदा खरीदा है तो ईमानदारी से उसे शीघ्र ही चुका देना चाहिए।

(४) सबको अपने देश का ध्यान रखना चाहिए अपने निजी स्वार्थ का नहीं। देश की बनी हुई चीजों को विशेषता देनी चाहिए और गृह उद्योगों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

शासकीय कर्मचारी व अन्य क्षेत्रों के कर्मचारियों के लिये नियमावली—

(१) ईमानदारी से काम करना चाहिए और जनता के हित को अपनी दृष्टि में रखना चाहिए।

(२) कभी अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए और न किसी प्रकार की रिश्वत लेनी चाहिए।

(३) निष्पक्ष भाव से सेवा करनी चाहिये। किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए।

(४) अपने व्यवहार में मीठा और नर्म रहना चाहिये। अनुचित रूप से कड़ाई की आदत को छोड़ देना चाहिए।

(५) अपने कर्तव्यों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए और हर समय अपने अधिकारों के लिये ध्यान करते रहना और संघर्ष करते रहने की भावना उचित नहीं है।

(६) हर एक को अपनी आमदनी के अनुसार ही व्यय करना चाहिए और कुछ न कुछ बचाते रहना चाहिए।

टिप्पणी १—प्रत्येक कार्यालय में यदि कार्य आरम्भ होने से पूर्व सम्मिलित प्रार्थना की प्रथा प्रचलित हो जाये और अधिकारियों और कर्मचारियों से भ्रष्टाचार निरोधक प्रतिज्ञा-पत्र भरवा लिये जायें तो नैतिक उत्थान की दृष्टि से लाभदायक होंगे।

सामाजिक व्यवहार की नियमावली—

(१) अपने जीवन-निर्वाह में दूसरों के हित और सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(२) जाति, रग, लिंग और सम्प्रदाय के भेद-भावों से बचे रहना चाहिए।

(३) किसी को नीच या अछूत नहीं समझना चाहिए।

(४) नशे की चीजों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(५) जुए की भावना से बचे रहना चाहिए।

(६) सड़क पर चलते समय सड़क के नियमों का ध्यान रखना चाहिए।

(७) अनुचित रूप से ईर्षा और द्वेष नहीं करना चाहिए।

(८) प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप को एक अमर आत्मा समझना चाहिए। और शारीरिक दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। इससे जो अनुचित भेद-भाव पैदा होता है वह न होगा।

(९) जिस प्रकार का व्यवहार वह दूसरों से अपने सम्बन्ध में आशा रखता है वैसा ही व्यवहार उसको दूसरों से करना चाहिए।

(१०) आन्तरिक अंकुश के आधार पर उसको जीवन-निर्वाह करना चाहिए।

(११) अपने मनोरंजन में भी दूसरों की सुविधा का ध्यान रखना चाहिए। आधी रात को गाना गाना, या बाजा बजाना उचित नहीं।

राजनैतिक जीवन के लिये नियमावली—

(१) कर्तव्य पालन करने पर बल देना चाहिए न केवल अधिकारों की प्राप्ति पर।

(२) वोट या सम्मति एक पवित्र और मूल्यवान अधिकार है, इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अनुचित वोट देश को बड़ी हानि पहुँचा सकता है।

(३) वोट हाथ से हाथ उठाकर दी जाती है या वैलट के अवसर पर हाथ झुका कर। हाथ के प्रयोग करते समय मस्तिष्क में उसका ज्ञान होना चाहिए और हृदय में लग्न।

(४) निर्वाचनों में ईमानदारी आवश्यक है।

(५) निर्वाचन में सफल हो जाने पर अनुचित लाभ उठाने की भावना नहीं रखनी चाहिए।

यात्रा के लिये नियमावली—

(१) दूसरों की सुविधा का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(२) गाड़ी में प्रवेश करते समय व उतरते समय व टिकट खरीदते समय, लाइन बनाने की आदत डालनी चाहिए।

(३) वृद्ध, निर्वल और देवियों के लिए विशेष सुविधायें देने के लिए उद्यत रहना चाहिए।

(४) यात्रा में कभी नशे में नहीं रहना चाहिए।

(५) सफाई और शुद्धता के नियमों का पालन करना चाहिए। छिलके फैंकना, पानी फैलाना आदि बुरी आदत है।

(६) दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए और न अनुचित शब्दों का और गाली का प्रयोग करना चाहिए।

(७) बिना टिकिट चलने की बुरी आदत को छोड़ना चाहिए।

(८) सड़क पर चलते समय आँख और कान दोनों खुले हुए होने चाहिए।

अध्यात्मिक जीवन के लिये नियमावली—

(१) अपने को अमर आत्मा समझना चाहिए और ईश्वर की सत्ता में विश्वास होना चाहिए।

(२) आत्म संयम की भावना रखनी चाहिए।

(३) ईश्वर की दैनिक उपासना और प्रार्थना करते रहना चाहिए।

खाने सम्बन्धी नियम—

(१) हमें जीने के लिए खाना है, खाने के लिए नहीं जीना।

(२) अधिक भोजन, पैदा करने की भावना रखनी चाहिए।

(३) खाना खराब नहीं करना चाहिए।

(४) खाने में स्वाद के साथ-साथ स्वास्थ्य की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए और मानसिक स्वास्थ्य, शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मिक स्वास्थ्य सबकी ओर ध्यान रखना चाहिए।

(५) खाने में हमें चटोरा नहीं होना चाहिए और न आवश्यकता से अधिक खाना चाहिए। स्वाद के वशीभूत होकर अनावश्यक रूप से कोई खाना नहीं खाना चाहिए।

(६) माँस भक्षण से बचे रहना चाहिए।

(७) मालदार आदमी को तभी खाना खाना चाहिए जब उसको असली भूख लगे।

(८) खाने का समय नियत होना चाहिए। हर समय खाते रहना अनुचित है।

(९) दिखावे या खुशामद के लिए बड़ी-बड़ी दावतें देना बुरा है।

(१०) खाने के मामले में फैशन या रिवाज का शिकार नहीं होना चाहिए।

(११) हमें खाने के सम्बन्ध में ऐसा स्वभाव बनाना चाहिए कि जिस प्रकार का भोजन हमें अपनी ईमानदारी की आमदनी से मिले उससे ही सन्तोष होना चाहिए। पेट के नाम पर बेईमानी करने की बुरी आदत छोड़ देनी चाहिए।

पोशाक सम्बन्धी नियमावली—

(१) हमारी पोशाक, साफ, सादा और कम व्यय में बननी चाहिए। और समय, ऋतु, और अपनी आय का ध्यान रखना चाहिए।

(२) हमें स्वदेशी वस्त्रों के प्रयोग की आदत डालनी चाहिए।

(३) किसी फैशन का गुलाम नहीं होना चाहिए।

(४) जब हमें कोई नया कपड़ा खरीदना हो तो हमें यह बात विचारनी चाहिए कि क्या हमें इस कपड़े का खरीदना उचित है, क्या हम उसके बिना निर्वाह नहीं कर सकते। यदि अन्तर आत्मा यह कहे कि खरीदना आवश्यक नहीं है तो नहीं खरीदना चाहिए।

(५) हमारी पोशाक केवल स्वदेशी कपड़े की ही नहीं होनी चाहिए बल्कि अपने देश के ढंग की भी होनी चाहिए। विदेशियों का अनुचित अनुकरण त्याज्य है।

बोलने के लिये नियम—

(१) हमें बात करते समय बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए और प्रयोजन के अनुकूल हो बात करनी चाहिए।

(२) हमारी बातचीत पवित्र होनी चाहिए।

(३) हमें केवल सत्य का ही प्रयोग करना चाहिए।

(४) दूसरों के पीठ पीछे उनकी बुराई नहीं करनी चाहिए।

(५) आवश्यकता होने पर हमें दूसरों की ताड़ना करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए।

(६) हमें मिठास और प्रेम से बोलना चाहिए।

(७) हमें बड़ों और भलों का आदर करना चाहिए।

(८) दूसरों की उचित प्रशंसा के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए।

(९) निष्प्रयोजन और अनावश्यक रूप से बोलने की आदत छोड़ देनी चाहिए।

(१०) अपवित्र शब्दों का प्रयोग किसी भी दशा में नहीं करना चाहिए।

(११) किसी भी दशा में झूठ नहीं बोलना चाहिए।

(१२) किसी भी दशा में खुशामद नहीं करनी चाहिए।

(१३) गाली का प्रयोग किसी भी दशा में नहीं होना चाहिए।

(१४) अपनी प्रशंसा और शेखी की आदत बुरी है।

(१५) आदमी को दो कान और एक जबान मिली है उसको बोलने से पहले दो बार विचार कर लेना चाहिए।

व्यवसाय के नियम—

(१) ऐसा व्यवसाय पसन्द करना चाहिए जो अपनी रुचि के अनुकूल हो जिसके करने में मन उत्साहित रहे।

(२) व्यवसाय को केवल रोटी कमाने की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। रोटी कमाने के साथ-साथ अपना सब प्रकार का हित और समाज का हित दृष्टि में रखना चाहिए।

(३) किसी भी व्यवसाय या कार्य को जो व्यक्ति या समाज के लिये हितकर है, ग्लानि की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए और न उसको तुच्छ समझना चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से सफाई करने वाले और मैला उठाने वालों का भी कार्य बड़ा आवश्यक और हितकर है। इस प्रकार का काम करने के कारण किसी को नीच या त्याज्य नहीं समझना चाहिए।

साधारण नियम—

नैतिक स्वास्थ्य की नियमावली कभी कोई इतनी पूर्ण नहीं बना सकता जो हर अवस्था में उपयोगी हो यह एक बड़ा विशाल कार्य है साधारणतया यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि मनुष्य का नैतिक स्वास्थ्य उसी समय तक ठीक रह सकता है जब वह अपने सम्बन्ध में अध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी विचार करे न केवल शारीरिक

उन्नति पर्याप्त है और न केवल मानसिक उन्नति। सबसे ज्यादा अधिक आवश्यक आत्मिक उन्नति है क्योंकि शरीर और मस्तिष्क आत्मा के प्रयोग के लिए बनाये गये हैं। वर्तमान जगत में अपने पिण्ड अर्थात् शरीर में आत्मा की ओर ध्यान नहीं है और न भ्रमाण्ड में परमात्मा की ओर ध्यान है और इस अवहेलना का ही यह परिणाम है कि नैतिक स्वास्थ्य नित्य-प्रति बिगड़ता जा रहा है और इसके ही परिणामस्वरूप शरीर सम्बन्धी बीमारियाँ मानसिक रोग, नये-नये रूप में बढ़ते जाते हैं और जितना उन रोगों का उपचार होता है उतना ही रोगों में विस्तार होता है, मानव के निर्माण और विकास के लिये सबसे अधिक नैतिक स्वास्थ्य पर दृष्टि रखना अनिवार्य और आवश्यक है। इसकी कुछ संक्षिप्त नियमावली ऊपर दी गई है आवश्यकतानुसार इसको बढ़ाया जा सकता और विचार की दृष्टि से उसको प्रयोग में लाया जा सकता है। अनैतिकता दूषित मनोवृत्ति का एक स्वरूप है और वह भी रोग है। अन्य रोगों की भाँति उसका उपचार आवश्यक है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास और व्यवहार में उस पर दृष्टि रखना नैतिक स्वास्थ्य का मुख्य आधार है।

अनुशासन का विधान

शासन और विधान—

शासन के लिये विधान की परम आवश्यकता है। शासन, शासन का रूप धारण नहीं कर सकता, जब तक उसकी रूपरेखा, उसका आधार और उसके क्रियात्मक नियम विधान के रूप में एकत्रित न हों। जब तक बिधान नहीं बनता, तब तक शासन के अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं होते। पाकिस्तान का उदाहरण हमारे सामने है। पाकिस्तान के लिये स्वराज्य की घोषणा हो गई परन्तु जब तक उन्होंने अपना विधान नहीं बना लिया, तब तक उनका स्थान उपनिवेश की भाँति रहा। वह पूर्ण स्वतन्त्रता के अधिकारी नहीं माने गये।

शासन की आवश्यकता—

प्रत्येक व्यक्ति स्वयम् अपना शासन चाहता है। दूसरे के शासन में रहना, चलना और व्यवहार करना वह अपनी स्वतन्त्रता के लिये

घातक समझता है; परन्तु जितनी इच्छा शासन के सम्बन्ध में व्यक्ति के हृदय में है, उतनी ही बड़ी शासन की आवश्यकता सदैव अनुभव की जाती रही है और अब भी की जाती है। संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। उनकी रुचि, उनकी भावनाएँ भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु यह बात सब के साथ चरितार्थ होती है कि प्रत्येक मनुष्य संसार के रचित पदार्थों का प्रयोग करना चाहता है, उनके प्रयोग में ही उसका जीवन है। प्रयोग में वाधा पड़ जाने का नाम रोग और प्रयोग के अन्त होने का नाम मृत्यु है। प्रयोग उसका जीवन-प्राण है। इस प्रयोग के सम्बन्ध में यह समझ लेना भी आवश्यक है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति प्रयोग के अभिप्राय से रचित पदार्थों के सम्पर्क में आता है, उसी प्रकार दूसरे मनुष्य और प्राणी भी अपने जीवन को स्वरक्षित रखने की भावना से सम्पर्क में आते हैं। जब रचित पदार्थों के सम्पर्क में सब प्राणी या एक समय में व एक स्थान में कुछ प्राणी आते हैं, तो ऐसे सम्पर्क के अवसर पर संघर्ष की भावना भी उत्पन्न हो जाती है। सम्पर्क में आते समय रचित पदार्थों की मात्रा सीमित है। इच्छा करने वाले अधिक हैं। और जब इच्छा पूरी नहीं हो पाती तो द्वेष की भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। एक व्यक्ति या समुदाय दूसरे व्यक्ति या समुदाय को अपनी इच्छा-पूर्ति में वाधक समझने लगता है और इसी में द्वेष की भावना का अंकुर छिपा हुआ है। सम्पर्क में आने और संघर्ष मिटाने के नियमों का नाम विधान है; और यही शासन का विधान है।

शासन और शक्ति—

सम्पर्क और संघर्ष को मर्यादित करने के लिये जहाँ विधान या दूसरे शब्दों में शासन की आवश्यकता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि शासन की शक्ति ऐसे सबल हाथों में हो जो करोड़ों-लाखों मनुष्यों और प्राणियों के संघर्ष और सम्पर्क को मर्यादित कर सकें। शासन की शक्ति का आधार या मूल केन्द्र ऐसे स्थान में होना चाहिये जिसे किसी भी दशा और किसी भी काल में अकेले रह कर या संगठित हो कर अपने बल या अपनी बुद्धि से उल्लंघन न कर सकें।

आज्ञा और नियम—

शासन के आधारभूत सिद्धान्त को समझने के लिये यह भी आवश्यक है कि हम आज्ञा और नियम में अन्तर समझ लें। आज्ञा निर्देश, आदेश के रूप में होती है। उसके लिये उपदेश और समय-समय पर सन्देश भी आवश्यक होते हैं। परन्तु आज्ञा के साथ विधि-विधान के साथ यह भी आवश्यक है कि उस आज्ञा को पालन कराने के लिये उसके साथ एक नियम लगा हुआ होना चाहिये। साथ ही शासन की आवश्यकता और सुन्दरता को समझने के लिये यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि एक व्यक्ति आज्ञा की अवहेलना कर सकता है परन्तु इस अटल नियम की अवहेलना नहीं कर सकता, कि जो आज्ञा की अवहेलना करेगा, विधि और विधान को नहीं मानेगा, उसको दण्ड अवश्य मिलेगा। यह एक अनादि और अटल सिद्धान्त है। यह एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है। शासन का आधार इस नियम पर अवलम्बित है और इसीलिये शासन के साथ दण्ड-विधान की आवश्यकता प्रतीत होती है।

सार्वजनिक दण्ड विधान—

सार्वजनिक दण्ड-विधान का रूप समझने के लिये हमें यह आवश्यक है कि हम कर्म-फल और कर्म-सिद्धान्त को अपने सम्मुख रक्खें।

शासन व न्याय-व्यवस्था—

शासन का ही दूसरा और वास्तविक रूप न्याय-व्यवस्था है। कर्म-फल का सिद्धान्त न्याय व्यवस्था पर आश्रित है। अर्थात् कर्म-फल में दण्ड-विधान और पारितोषिक-प्राप्ति दोनों सम्मिलित हैं। कर्म की मर्यादा का ही नाम शासन और न्याय-व्यवस्था है।

कर्म और भोग—

कर्म और भोग भी एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। कर्म की मर्यादा से अभिप्राय भोग की मर्यादा और भोग की मर्यादा का सम्बन्ध संसार के रचित पदार्थों के प्रयोग से है।

कर्म और भोग का आधार—

प्रत्येक व्यक्ति के स्वरूप को समझने के लिये हम जीव की परिभाषा को अपने सम्मुख रखना चाहते हैं। जीव की परिभाषा न्याय-दर्शन के अनुसार इस प्रकार है कि ज्ञान, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख जीव के चिह्न हैं। अर्थात् इच्छा, द्वेष, प्रयत्न का आधार है और सुख-दुःख प्रयत्न का परिणाम। इच्छा द्वेष की मर्यादा प्रत्यन की मर्यादा से अधिक आवश्यक है। प्रयत्न का आधार इच्छा और द्वेष के जगत् में है। और द्वेष की मर्यादा के साथ ज्ञान की मर्यादा भी आवश्यक है। सारे विधान व सब प्रकार के शासन मनुष्यों के लिये ही आवश्यक हैं। मनुष्य में विशेषता है ज्ञान प्राप्त करने की और अपने ज्ञान के आधार पर प्रयत्न करने की। जैसा हमने ऊपर दर्शाया है प्रयत्न का आरम्भिक रूप इच्छा व द्वेष है और इच्छा व द्वेष का मर्यादित होना ज्ञान से सम्बन्धित है।

शासन का केन्द्र—

इच्छा व द्वेष का केन्द्रीय स्थान मनुष्य का हृदय-जगत् या मन-मन्दिर है और मन-मन्दिर में ही इच्छा उत्पन्न होती है। वहाँ ही बुद्धि के सहारे ज्ञान प्राप्त होकर इच्छाएँ रूप धारण करती हैं और वहाँ से ही वे इच्छाएँ कर्म प्रयत्न और व्यावहारिक जीवन के रूप में प्रकट होती हैं।

शासन की परम आवश्यकता—

अब यह बात भली-भाँति समझ में आ सकती है कि शासन का आरम्भिक रूप हृदय-जगत् की व्यवस्था से सम्बन्धित है।

हृदय-सम्राट—

शासन के अधिकार सम्राटों के अधीन रहते हैं। चाहे वे वंश-परम्परा से सम्राट बने हों या प्रजा की अनुमति से निर्वाचित हुए हों। बनने की विधि में अन्तर है, बन जाने पर सम्राट की पदवी प्राप्त कर लेने पर, सबसे अधिक प्रशंसा उस सम्राट की समझी जाती है जो हृदयों का सम्राट हो, जिसकी मान्यता व प्रभुता स्वाभाविक रूप से मानने वालों के हृदय में अंकित हो।

हृदय-सम्राट कौन है ?

बाहर के सम्राट चाहे निर्वाचित राष्ट्रपति हों चाहे वंश-परम्परा से बने हुए सम्राट, उसी समय वास्तविक सम्राट माने जाते हैं, जब वह हृदय-सम्राट से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लें।

तीन प्रकार के नियम—

संसार में तीन प्रकार के नियम या विधान प्रचलित हैं। राज्य-नियम, लोक-नियम और दैविक नियम। राज्य-नियम और लोक-नियमों का सम्बन्ध बाह्य प्रयत्नों से है। इच्छा के जगत् में उनकी पहुँच नहीं है। इसलिये हृदय-जगत् की व्यवस्था के लिये दैविक नियमों की आवश्यकता है। दैविक नियम असली हृदय-सम्राट के बनाये हुए हैं, और उससे ही सम्बन्धित हैं।

बाहर के सम्राटों का हृदय-सम्राट से सम्बन्ध—

बाहर के सम्राटों को सफल सम्राट बनाने के लिये वास्तविक सम्राट से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक माना गया है और इस सम्बन्ध स्थापित करने का ही नाम व रूप शपथ ग्रहण करना है।

शासन और शपथ—

प्राचीन काल से लेकर अब तक दैवी शासन के अधिकार और शपथ-ग्रहण का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है और सम्प्रति प्रत्येक राष्ट्रपति को मन्त्री, और उच्च अधिकारी को शासन के अधिकार प्रयोग करने से पूर्व शपथ ग्रहण करना आवश्यक है। शपथ का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक शासक अपने को असली सम्राट या हृदय सम्राट का प्रतिनिधि मान कर शासन की शक्ति का प्रयोग करे। और प्रयोग करते समय अपने प्रतिनिधि होने का ध्यान रक्खे। जिस प्रकार शासक को शपथ द्वारा यह ध्यान दिलाने की प्रथा है कि वह प्रतिनिधि है इसी प्रकार शासित को भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जो शासक है वह असली शासक का प्रतिनिधि है और यदि प्रत्येक शासित अपने आपको असली शासन-कर्ता से सम्बन्धित समझता रहे, तो वह स्वयम्

इस प्रकार मर्यादित रहेगा कि उसे बाहर के शासनों के फन्दे की व बन्धनों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस प्रकार की भावना का ही नाम अनुशासन है। अब हम शासन और अनुशासन का सम्बन्ध समझ सकते हैं। अनुशासन का विधान क्या है यह भी समझ सकते हैं।

शासन और मन्त्र—

शासन और मन्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्त्र से अभिप्राय विचार से है, विचारों से आचार बनता है। किसी व्यक्ति का वह आचार जो दूसरों से सम्बन्धित है, व्यवहार कहाता है। इसलिये शासन-प्रबन्ध के लिये भिन्न-भिन्न विभागों के मन्त्री नियुक्त होते हैं और ये सब मन्त्री एक मुख्य मन्त्री के अधीन रह कर कार्य संचालन करते हैं। जैसा हमने ऊपर दर्शाया है कि मन्त्रियों को सफलता से कार्य करने और योग्य बनाने के लिये मन्त्र अथवा विधान की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार हमें अनुशासन के सम्बन्ध में विचार करते हुए ऐसे मन्त्र की खोज करनी होगी जिसका अनुशासन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अनुशासन का महत्व—

कोई भी शासक सफल नहीं हो सकता जब तक उस शासन-प्रणाली से सम्बन्धित व्यक्ति अनुशासन की मर्यादा पालन करने वाले न हों। अनुशासन का पर्यायवाची शब्द अँग्रेजी में Discipline है। Discipline से अभिप्राय उस भावना से है जो किसी Disciple और शिष्य में होनी आवश्यक है। केवल अनुशासन पर बल देना परन्तु यह निर्णय न करना कि गुरू कौन और शिष्य कौन है, गुरू-शिष्य का क्या सम्बन्ध है; ठीक नहीं है। इसलिये हमें अनुशासन के सम्बन्ध में उस मन्त्र को या विधान को समझना चाहिये, जिससे अनुशासन मर्यादित हो सके।

अनुशासन और योग—

अनुशासन और योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। योगदर्शन के रचयिता पतञ्जलि ऋषि ने योगदर्शन का आरम्भ जिस सूत्र से किया है, उसमें अनुशासन शब्द का प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि

अनुशासन के लिये योग की भावना आवश्यक है। योग से अभिप्राय उस मानसिक भावना से है जिसके आधार पर ऐसा स्वभाव बन जाए कि प्रत्येक मनुष्य अपने विचारों, आचारों और व्यवहार में ईश्वर को अपने समीप द्रष्टा और न्यायकर्ता अनुभव करता रहे। योग जब उपासना के अर्थ में आता है, तब उसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य एकान्त में बैठकर ईश्वर के नाम, उसके गुण, कर्म और स्वभाव का चिन्तन कर ले, जिससे जब वह अपने व्यवहार में अन्य प्राणियों के और संसार के पदार्थों के सम्पर्क में आये तो ईश्वर को न भूले—उसका ध्यान रक्खे।

आदि गुरु—

योगदर्शन के २६ वें सूत्र में ईश्वर को आदि गुरु माना गया है—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्

आदि में उत्पन्न होने के कारण सबका गुरु ब्रह्मा माना जाता है, परन्तु उसका काल से अवच्छेद है। ईश्वर आचार्य भी है और गुरु भी है। ईश्वर आचार्य इसलिये है क्योंकि वह सत्य आचार का ग्रहण कराने हारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है। "य आचार ग्रह्यति सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वर।" ईश्वर गुरु भी इसी आधार पर है कि सब प्रकार का धर्म और विद्या का आदि स्रोत वही है "यो धर्म्मान् शब्दान् गुणात्युपदिशति स गुरु।" ईश्वर गुरु है और आदि गुरु है। उसका ही संचालन सारे जगत् में चरितार्थ है। इसलिये उस आदि गुरु के मुख्य विधान या मन्त्र की आवश्यकता है, जिससे मनुष्य के हृदय-जगत् की अर्थात् उस केन्द्र की जहाँ से इच्छायें और द्वेष उत्पन्न होते हैं व्यवस्था ठीक हो सके। प्राचीन पद्धति के अनुसार गुरु मन्त्र गायत्री मन्त्र है जो निम्न प्रकार है:—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

इस मन्त्र का शब्दार्थ निम्न प्रकार है :—

(सवितुः) प्रेरक उत्पादक (देवस्य) परमात्मदेव के (तत्) उस (वरेण्यम्) वरने योग्य (भर्गः) शुद्ध तेज को (धीमहि) हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं (यः) जो धारण किया हुआ तेज (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को, कर्मों को (प्रचोदयात्) सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।

यह मन्त्र गुरु मन्त्र क्यों—

यह मन्त्र गुरुमन्त्र इसलिये कहलाता है कि इसमें परमात्मा की ओर से वह आदेश और उपदेश हैं जिससे सारा जीवन मर्यादित होता है।

मानव की विशेषता—

हम ऊपर न्यायदर्शन के आधार पर जीव की परिभाषा व उसके चिह्न लिख चुके हैं। मनुष्य के लिये उसका ज्ञान और उसकी बुद्धि सबसे विशेष उपयोगिता के लिये है। जीव ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता रखता है, वह स्वयम् बिना दूसरे के निमित्त के ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञान का आदि स्रोत ईश्वर है और वही आदि गुरु है इसलिये प्रत्येक मनुष्य के ज्ञान का आधार ईश्वर है और जब मनुष्य अपने ज्ञान या अपनी बुद्धि को ईश्वर के ज्ञान से सम्बन्धित या संयुक्त समझता है तो ज्ञान का दुरुपयोग नहीं हो सकता।

ज्ञान और कर्म—

ज्ञान और कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में हम इसको इल्म और अमल के रूप में देख सकते हैं। कर्म का सम्बन्ध भोग-पदार्थों के सम्पर्क में आने में है। जब हम रचित पदार्थों के सम्पर्क में आयें और यह बात ध्यान में रक्खें कि ईश्वर ही सब पदार्थों का रच-यिता है तो रचित पदार्थों का भी दुरुपयोग नहीं होगा। इस मंत्र में ईश्वर को सविता बताया गया है। सविता का अर्थ है उत्पन्न करने वाला और प्रेरणा देने वाला। संसार के जितने पदार्थ हैं सब ईश्वर की व्यवस्था से उत्पन्न होते हैं, और उसकी व्यवस्था के अनुसार ही

कर्म-फल सिद्धान्त के अनुसार अर्थात् ईश्वर की न्याय-व्यवस्था के आधार पर रचित पदार्थ प्राणियों को प्राप्त होते हैं। इसलिये जब मनुष्य किसी रचित पदार्थ को प्राप्त करना चाहे तो उसे तुरन्त उस मालिक की आज्ञा का ध्यान कर लेना चाहिये और यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि ईश्वर सब पदार्थों का रचयिता है।

ईश्वर न्यायकारी है—

परमात्मा न केवल रचयिता है, प्रत्युत न्यायकारी भी है। उसकी आज्ञा व व्यवस्था के बिना कोई पदार्थ किसी मनुष्य या प्राणी को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये इस मन्त्र में सविता के साथ ईश्वर को *'वरेण्यं'* बताया गया है। *'वरेण्यं'* से अभिप्राय है कि मनुष्य ईश्वर को सचालक व न्यायकारी समझ-बूझ कर स्वीकार करता है। अपने हित के लिये स्वीकार करता है और यह जान तथा मान कर स्वीकार करता है कि यदि वह ऐसा नहीं मानेगा तो उसको रचित पदार्थ प्राप्त नहीं होंगे और यदि प्राप्त हो भी गये तो उसके लिये सुख-प्रदाता व हितकर नहीं होंगे।

मनुष्य की तीन अभिलाषायें—

प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है और सुख के लिये दीर्घ जीवन चाहता है। चेतनता, ज्ञान, आनन्द और स्थायी सुख भी चाहता है। ईश्वर इन तीनों का आदि स्रोत है अर्थात् ईश्वर अनादि है, ज्ञान का स्रोत है। दुःखों से छुड़ाने वाला है और सुख का देने वाला है और इस लिये मन्त्र के आरम्भ में *भूर्भुवः स्वः* के रूप में ईश्वर के तीन महान् गुण वर्णन किये गये हैं जिनसे जीव का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ईश्वर का मुख्य नाम—

इस मन्त्र में *ओ३म्* शब्द से अभिप्राय ईश्वर के मुख्य नाम से है। *ओ३म्* से लेकर *भूर्भुवः स्वः* तक, लक्ष्य में रखते हुए, ईश्वर का मुख्य नाम और उसके विशेष गुण हमारे सम्मुख आ जाते हैं। सविता से उसके रचयिता होने की भावना उत्पन्न होती है और *वरेण्यं* से उसके न्यायकारी होने की।

बुद्धि की पवित्रता—

'भर्गो देवस्य धीमहि' से अभिप्राय है कि हम उस दिव्य गुण युक्त और पापों के दूर करने वाली परमात्मा की बुद्धि को अपनी बुद्धि से संयुक्त करते हैं अर्थात् उसकी बुद्धि को अपनी बुद्धि का आधार मानते हैं। यदि बुद्धि उससे जुड़ी हुई न होगी तो भी जीवन धार्मिक और सफल न हो सकेगा।

बुद्धि और कर्म—

यदि बुद्धि हमारे कर्म से जुड़ी हुई और उसको प्रकाशित करने वाली न होगी तो भी हमारे कर्म अच्छे नहीं होंगे। हम पाप से न बच सकेंगे, इसलिये मन्त्र के अन्त में *'धियो योनः प्रचोदयात्'* से यह दर्शाया गया है कि हमारी बुद्धि केवल ईश्वर से जुड़ी हुई ही न हो, प्रत्युत वही बुद्धि जो ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित है हमारे कर्म को भी मर्यादित कर सके।

बिजली घर—

इस मन्त्र के महत्त्व को समझने के लिये हम बिजली घर की उपमा भली भाँति समझ सकते हैं।

बिजली का प्रयोग—

बिजली के लिये एक उत्पादन-केन्द्र या 'पावर-हाउस' होता है। वहाँ से बिजली को दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिये तारों का प्रयोग होता है और तारों के विस्तार के लिये खम्भे लगाने पड़ते हैं। उत्पादन-केन्द्र से जो बिजली तारों द्वारा चलती है, उससे अनेक स्थानों पर लाभ उठाया जा सकता है। प्रकाश और गति प्राप्त की जा सकती है; परन्तु यह आवश्यक है कि जिन स्थानों को प्रकाश या गति पहुँचानी है, उनका सम्बन्ध (कनैक्शन) उत्पादन-केन्द्र से हो और उस सम्बन्ध से पूर्व वहाँ फिटिंग होना अर्थात् तैयार होना आवश्यक है। यदि सही निर्माण और सम्बन्ध नहीं है तो बिजली उत्पादन-केन्द्र से निकलती हुई आगे चली जायगी; परन्तु उस स्थान

पर उससे लाभ नहीं लिया जा सकेगा। यह भी आवश्यक है कि हमारा अभ्यास यह हो कि हम समय पर उस बिजली के प्रयोग का ध्यान रक्खें और यह भी आवश्यक है कि हमें प्रयोग-विधि का ध्यान और ज्ञान भी हो। यदि इस सारी शृङ्खला में से एक भी कड़ी अनुपस्थित होगी तो प्रकाश से लाभ नहीं पहुँचेगा।

ज्ञान का आदि स्रोत—

जैसा ऊपर बताया गया है परमात्मा ज्ञान-स्रोत और परमानन्द का आदि स्रोत है। उसे हम बिजली घर की परिभाषा में उत्पादन-केन्द्र मान सकते हैं। गायत्री मन्त्र का जाप और उच्चारण उन तारों के समान है, जिनके द्वारा ज्ञान दूसरों तक पहुँचता है और अपना आचरण उस फिटिंग के समान है जिसके कारण हम उत्पादन-केन्द्र से लाभ उठा सकते हैं। गायत्री मन्त्र से उपासना द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना और इस प्रकार जो गति तथा प्रकाश प्राप्त हो उससे अपने कर्म और ज्ञान को प्रकाशित करना, क्रियात्मक जीवन बन जाता है। इसलिये तीनों बातें लक्ष्य में रखनी चाहियें। ईश्वर उत्पादन-केन्द्र है, हमारे ज्ञान का आदि स्रोत है और आनन्द का आधार है और यदि हम चरित्रवान तथा सदाचारी होना चाहते हैं तो अपनी बुद्धि प्रयोग करते समय ईश्वर के आदि स्रोत होने को अनिवार्य रूप से ध्यान में रखें।

पदार्थों का आदि मूल—

जिस प्रकार ज्ञान-प्रयोग के समय हमें यह बात ध्यान में रखनी है, कि ज्ञान का आदि स्रोत ईश्वर है, इसी प्रकार यह बात भी ध्यान में रखनी है, कि सब पदार्थों का आदि मूल व निमित्त कारण भी ईश्वर ही है और सब पदार्थों का वही स्वामी है।

क्रियात्मक जीवन—

उपरोक्त दोनों भावनायें हमारे जीवन को मर्यादित रक्खेंगी और हमें अनुचित कर्मों से बचायेंगी।

वास्तविक अनुशासन—

यदि हृदय-जगत् की व्यवस्था अर्थात् ईर्ष्या और द्वेष की व्यवस्था उपरोक्त दोनों भावनाओं से ठीक-ठीक हो जाती है तो हमारे अन्दर अनुशासन रहेगा और इससे हमारा सारा जीवन पवित्र और सफल बनेगा।

मालिक की मरजी—

यह एक प्रसिद्ध प्रचलित नियम है कि यदि कोई व्यक्ति मालिक की आज्ञा के विपरीत किसी पदार्थ को लेगा तो वह चोरी का अपराधी होगा और इसी आधार पर यह समझ लेना चाहिये कि संसार के सब पदार्थों का मालिक ईश्वर है और उसकी ही आज्ञा से पदार्थ, कर्म-फल के रूप में सबको प्राप्त होते हैं और उसके ही नियम से बनते हैं। यह मन्त्र यह याद दिलाने के लिये है कि ईश्वर मालिक है, रचयिता है, न्यायकारी है, इसलिये यदि इस मन्त्र का महत्त्व हमारे स्वभाव का आधार हो जाये तो, हमारे जीवन में पाप की भावना का अभाव हो जायेगा।

छिपकर बचकर—

पाप करने वाला जब पाप करता है तो उसके अन्दर दो मनोविज्ञान काम करते हैं, पहला यह कि मेरा यह पाप प्रकट नहीं होगा, छिपा रहेगा और दूसरा यह कि यदि प्रकट हो भी जायेगा तो उसके परिणाम से किसी-न-किसी प्रकार बच जाऊँगा। ऐसी दशा में यह दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिये कि ईश्वर व्यापक, अन्तर्यामी और सर्वत्र है उससे कुछ छिप नहीं सकता। उसकी दृष्टि में रात के अँधेरे और दिन के उजाले में कोई अन्तर नहीं है। ईश्वर का न्याय ऐसा अटल है कि कोई अपने पाप-फल से बच नहीं सकता। इस गायत्री मन्त्र में ईश्वर को 'देव' शब्द से सम्बोधित किया गया है जिसका अभिप्राय उसके दिव्य गुण युक्त होने से है। ईश्वर का प्रकाश सब जगह प्रकाशित है। उसके प्रकाश में आकर कोई बुरा

कर्म छिप नहीं सकता और न उसकी न्याय-व्यवस्था से कोई बच सकता है। यदि प्रातःकाल और सायंकाल की प्रार्थनाओं में यही भावना दृढ़ हो तो अनुशासन की मर्यादा स्थिर रहेगी और कोई अपराध न हो पावेगा।

बुद्धि का चमत्कार—

मनुष्य की विशेषता उसके बुद्धिमान होने में है। बुद्धि ही उसके सुधार और बिगाड़ का साधन हो सकती है। क्या करना है, क्या नहीं करना इसका निर्णय बुद्धि के द्वारा ही होता है। यदि बुद्धि दूषित है तो करने और न करने के सम्बन्ध में निर्णय भी दूषित हो सकता है और बुद्धि, हानि का कारण बन सकती है। मननशील होने से ही मनुष्य 'मानव' कहलाता है। यदि बुद्धि दूषित हो गई तो वह मानव-पद से गिर जायेगा। बुद्धि जीवन को पवित्र बनाने के लिये सबसे अधिक आवश्यक है। संसार में जितना ज्ञान है, सब ईश्वर की ओर से है। इसलिये यदि गायत्री मन्त्र के आधार पर यह निश्चय हो जाये कि बुद्धि ईश्वरीय ज्ञान से ओत-प्रोत है तो बुद्धि का दोष दूर हो जायेगा और मनुष्य दोषों तथा त्रुटियों से बचा रहेगा। इसलिये यह बात बड़ी आवश्यक है कि शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी और शिक्षा देने वाले आध्यापक सदैव बुद्धि व ज्ञान के आदि स्त्रोत का ध्यान रक्खें और इस मन्त्र में इसी आधार पर बुद्धि को पवित्र बनाने की याचना की गई है।

ब्रह्मचर्य और आचार्य—

चरित्र और विद्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी अभिप्राय से प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि पढ़ने वालों को ब्रह्मचारी कहते थे। ब्रह्म का अर्थ है ज्ञान, वेद और ईश्वर। ईश्वर की आज्ञा, वेद की शिक्षा और ज्ञान के प्रकाश से जो मनुष्य अपना आचरण संयत रखता है वह ब्रह्मचारी है। इसी प्रकार जो गुरु या अध्यापक है, वह अपना आचरण पवित्र रखता हुआ अपने शिष्य का आचरण भी

पवित्र बनाता है। केवल पढ़ाता नहीं। शिक्षा-जगत् के सब पढ़ाने वालों को अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेना चाहिये। केवल मौखिक प्रतिज्ञा (Profess) पर्याप्त नहीं। यदि यह बात ध्यान में रहे कि विद्या-प्राप्ति आचरण पवित्र बनाने के लिये है तो पढ़े-लिखे विद्यार्थियों और अध्यापकों की जो चिन्ताजनक अवस्था है उसका सुधार हो सकता है। विद्या-प्राप्ति बड़ा बनने या रोटी कमाने के लिये ही नहीं बल्कि सज्जन या भला बनने के लिये है। यह गायत्री मन्त्र मनुष्य को बुद्धिमान तो बनाता ही है, साथ ही उसमें सज्जनता, पवित्रता और उत्साहशीलता भी भरता है।

जलता दीपक—

एक जलता हुआ दीपक अनेक दीपकों को जला सकता है, परन्तु दीपक वही जल सकेगा जिसमें तेल और बत्ती दोनों उचित मात्रा में होंगे। जिन दीपकों में केवल तेल है, बत्ती नहीं, या सिर्फ बत्ती है तेल नहीं है या तेल बहुत ज्यादा है और बत्ती बहुत छोटी है या बत्ती बहुत बड़ी और तेल बहुत कम है वे प्रज्वलित नहीं हो सकते। विद्यार्थी यदि प्रज्ज्वलित होना चाहते हैं तो उनको अपने भीतर तेल और बत्ती अर्थात् ज्ञान और चरित्र दोनों की व्यवस्था करनी होगी। इसी प्रकार यदि पढ़ाने वाले जलता दीपक बनकर अन्य दीपकों को जलाने वाला साधन बनना चाहते हैं, तो उनको भी अपने अन्दर तेल और बत्ती का समावेश करना होगा। यह गायत्री मन्त्र इसीलिये गुरुमन्त्र और महामन्त्र कहलाता है। गुरुमन्त्र इसलिये कि यह चरित्र और शिक्षा दोनों का आधार है, और महामन्त्र इसलिये कि इसको समझकर अपने विचार, आचार और व्यवहार ठीक रखने वाला व्यक्ति महान् बन जाता है, फिर किसी प्रकार का अपराध नहीं करता।

युद्ध में विजय—

युद्ध में सैनिक विजय प्राप्त कर सके, इसलिये उसे कवायद करनी पड़ती है। जो सैनिक दोनों समय नियमपूर्वक कवायद करता

है वह सहसा युद्ध छिड़ जाने पर भी घबराता या डरता नहीं, बल्कि शत्रु का सामना करके विजय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार रूपी पाँच शत्रु हर समय आक्रमण करना चाहते हैं परन्तु जो सैनिक अभ्यासी है और गायत्री मन्त्र द्वारा आध्यात्मिक कवायद किये हुये है, वह इन शत्रुओं को दूर भगा देगा, उनके वशीभूत न हो पाएगा। यदि पाप-मूल बुरी वासनायें नष्ट होती रहें तो चरित्र विशुद्ध रहेगा।

स्वराज्य और रामराज्य—

'स्वराज्य' और 'रामराज्य' दोनों ही आवश्यक हैं। स्वराज्य का अर्थ है कि हम स्वयम् अपने शासन में रहें; राम-राज्य का अर्थ भी यही है। राम की राजधानी अयोध्या इसीलिये कहलाती है कि उस पर किसी शत्रु का आक्रमण नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर के भीतर व्यापक राज्य की राजधानी अर्थात् हृदय-जगत् को अयोध्या बनाले और ऐसा अभ्यास करले कि कोई शत्रु या दोष उस पर आक्रमण न कर सके, तो वह राम-राज्य ही समझा जायेगा। स्वराज्य से अधिक आवश्यक स्वराज्य है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर उसका ही राज्य हो। ऊपर दर्शाया गया है कि ईश्वर का राज्य आत्मा पर हो, आत्मा का मन पर और मन का बुद्धि-ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्म्मेन्द्रियों पर। यह भीतरी व्यवस्था बाहरी दासता से बचाये रक्खेगी। जो बुरी अन्तर भावनाओं का दास नहीं है, वह बाहर भी किसी का दास नहीं रहेगा। और बुरी आदतों का दास बाहरी बन्धनों में अवश्य जकड़ जाएगा।

चोर और चौकीदार—

मनुष्य के भीतर उसकी अन्तर-आत्मा, चेतावनी देते रहने के लिये है। जब कोई बुरा विचार सामने आता है, और बुरा काम करने के लिये प्रेरणा मिलती है तो अन्दर का चौकीदार अर्थात् अन्तर-आत्मा "सावधान रहो", "होशियार रहो" की आवाज उठाता है। यदि चौकीदार की इस आवाज को सुनने का अभ्यास हो तो चोर

चोरी से बच जायेगा। यदि वह चौकीदार की आवाज नहीं सुनेगा या सुनकर अनसुनी कर देगा तो अपराध या पाप कर सकता है। यह गायत्री मन्त्र इसीलिये है कि भीतरी चौकीदार की आवाज सुनने का अभ्यास बना रहे और चोरी से बचा जा सके।

छीना-झपटी—

संसार में युद्ध और छीना-झपटी इसीलिये है कि जब भोग पदार्थ मनुष्य के सामने आते हैं, तो वह उनको देखकर उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करता है। उस समय वह इस बात पर विचार नहीं करता कि उसको उनके प्राप्त करने का अधिकार है भी या नहीं। जब एक से अधिक व्यक्ति किसी पदार्थ को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तो लड़ाई-झगड़े उत्पन्न हो जाते हैं। लड़ाई को रोकने के लिये उसका असली कारण दूर करना पड़ेगा। पदार्थ को देखकर यदि पदार्थ के रचयिता और स्वामी अथवा उसकी आज्ञा तथा व्यवस्था का ध्यान आ जाय तो लड़ाई बन्द हो जायेगी। लड़ाई का अन्त आन्तरिक अनुशासन से ही हो सकता है। अस्त्र-शस्त्र तो केवल साधन हैं। उनके घटाने-बढ़ाने से कोई विशेष लाभ नहीं है। वास्तविक अभिप्राय तो तभी पूरा होगा जब लड़ाई का मूल कारण दूर हो जायेगा। अर्थात् मनुष्य दूसरे की चीज जबरदस्ती न छीने-झपटेगा।

सुख और शान्ति—

मनुष्य स्वभावतः दुःख से बचना और सुख प्राप्त करना चाहता है। सुख केवल इन्द्रियों की तृप्ति का नाम है और इन्द्रिय-तृप्ति से जो क्षणिक सुख मिलता है, वह अस्थायी होता है। अस्थायी सुख के लिये केवल इन्द्रियों की तृप्ति की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। इन्द्रियों की तृप्ति से तो वासनाएँ प्रबल होती हैं। वास्तविक तृप्ति तो मन और आत्मा की तृप्ति है। इस तृप्ति का नाम ही शान्ति है। सुख के लिये तो अनेक उपाय हैं, परन्तु शान्ति-प्राप्ति की एक ही अचूक औषधि है, जो गायत्री मन्त्र में बताई गई है। गायत्री मन्त्र समझ लेने से सुख प्राप्त होगा और दुःख दूर रहेगा।

परन्तु इस सबसे बढ़कर जो लाभ होगा वह भावनाओं की पवित्रता के रूप में होगा यही शान्ति और सच्चे आनन्द का साधन है।

यन्त्र और मन्त्र—

यह विज्ञान का युग है। मनुष्य की सुख-सुविधा के लिये अनेक प्रकार के यन्त्र प्रचलित हैं और यह भाव भी प्रचलित है कि मन्त्र से कामना पूरी हो जाती है। जन्तर-मन्तर भी प्रसिद्ध हैं। यह सब भ्रम, वहम और मिथ्या विचार है। जन्तर-मन्तर का कोई प्रभाव नहीं। जादू टोना भी व्यर्थ के विचार हैं। असली सुख-शान्ति का साधन वेद-मन्त्रों में है। इन मन्त्रों की भावना को क्रिया में लाना ही असली यन्त्र है और यन्त्र-मन्त्र से यही अभिप्राय है। यदि हम इस विशुद्ध भाव को भूलकर इधर-उधर भटकते और भ्रमवश अपने जीवन को पवित्र बनाने का उद्योग नहीं करते, तो सच्चे सुख की अभिलाषा व्यर्थ है। मन्त्र या विचार, आचार का आधार होना चाहिये। आचार से व्यवहार मर्यादित होता है। यदि विचार, आचार और व्यवहार में समन्वय न होगा तो उद्देश्य-पूर्ति नहीं हो सकती।

विज्ञान का चमत्कार—

वर्त्तमान युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने बड़े-बड़े चमत्कार दिखाए हैं। देश-काल पर विज्ञान ने विजय प्राप्त करादी है और संसार की रचना में जो प्रक्रियाएँ कार्य कर रही हैं, उनका पता लगा लिया है; परन्तु दुःख तो इस बात का है कि वैज्ञानिक लोग सांसारिक रचना और उसकी प्रक्रिया देखकर झूठे अभिमान के साथ यह कहने लगे हैं कि सृष्टि का रचयिता परमात्मा है ही नहीं। यदि 'सविता' शब्द का प्रचार होता और विज्ञान वालों के सम्मुख यह भावना रहती कि परमात्मा सब पदार्थों का आदि मूल और निमित्त कारण है, तो प्रत्येक विज्ञानवेत्ता दृढ़तापूर्वक यह कह सकता था कि ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वदा विद्यमान है। विज्ञान नास्तिकता और अज्ञेय-वाद को प्रोत्साहन देने में इसलिये साधन बना कि उसके आगे गुरुमन्त्र का आशय या अभिप्राय नहीं था। गायत्री मन्त्र प्रारम्भ से इस बात

पर बल देता है कि एक मात्र परमात्मा सब पदार्थों का रचयिता है। हम अधिक से अधिक यह जान सकते हैं कि कोई पदार्थ कैसे बनता है; परन्तु बिना ईश्वरीय नियमों का सहारा लिये हम कोई तात्त्विक पदार्थ नहीं बना सकते। जिस पुष्प या पशु का वैज्ञानिकों ने विश्लेषण किया या उसे चीरा-फाड़ा उसे वे पुनः ज्यों का त्यों नहीं बना सकते। यह ईश्वर की ही सामर्थ्य है कि वह उत्तम से उत्तम, सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल से विशाल पदार्थों का निर्माण कर-करा सकता है।

चित्र और चित्रकार—

संसार को हम एक चित्र के रूप में देख और समझ सकते हैं; परन्तु चित्र से चित्रकार की सत्ता पृथक् माननी होगी। कोई चित्र अपने आप नहीं बन सकता। चित्र के लिये चित्रकार की आवश्यकता है और निर्माण के लिये निर्माता की। चित्रकार और निर्माता को यदि सम्मुख रक्खा जायेगा और उसकी आज्ञा समझ-बूझकर मानी जायेगी तो चित्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम न होगा और उसका दुरुपयोग भी न हो पावेगा।

जीवन-मरण की समस्या—

संसार में जीवन-मरण की समस्या सबसे अधिक जटिल है, यदि इस समस्या की पूर्ति हो जाये तो मानव, संसार का वास्तविक स्वरूप समझकर अपने कर्त्तव्य का पालन कर सके। जीवन और मरण दैवी-मर्यादा के अधीन हैं। मनुष्य कितनी ही उन्नति करे, कितना ही ज्ञान बढ़ावे; परन्तु वह जीवन-मरण की पहेली नहीं सुलझा सकता। ईश्वर-सत्ता का ध्यान रखकर ही जीवन-मरण की समस्या हल हो सकती है।

हाल-चाल—

संसार में अनेक प्रकार के दुःख दिखलाई देते हैं। यदि एक मित्र दूसरे मित्र से मिलता है तो पूछता है—'कहिये हाल-चाल कैसा है?' इससे यह पता चलता है कि हमारी हालत, हमारी चाल पर निर्धारित

है। जैसा कर्म होगा वैसा ही परिणाम भी। बहुत से विचारक संसार में फैले हुए दुःख को देखकर यह कहने लगते हैं कि संसार की व्यवस्था करने वाला को; नहीं है। उन्हें कोई न्याय-व्यवस्था भी दिखाई नहीं देती। बहुत से दुख तो ऐसे हैं जिनका कोई प्रत्यक्ष कारण दिखलाई नहीं देता। गायत्री मन्त्र में यह आदेश है कि हम ईश्वर को न्यायकारी और सबका संचालक मानें। इस भावना का यह प्रभाव होना चाहिये कि जब हम अपने को दुखी अनुभव करें या दूसरे को दुखी देखें तो उसके कारण का पता लगावें और कारण का पता लगाकर उसका निराकरण करें। संसार में कारण और कार्य का अटूट सम्बन्ध है। कार्य को देखकर यदि कारण पर विचार नहीं किया जायगा तो हम किसी उद्देश्य की पूर्ति न कर पायेंगे। सम्प्रति आपत्तियों का प्रबल आक्रमण है। इन दैविक आपत्तियों को चेतावनी के रूप में हमें अपने आगे रखना चाहिये और इन चेतावनियों से सावधान होकर अपने चरित्र को ऊँचा बनाना चाहिये—इस प्रकार कि उसका परिणाम कभी दुःख-रूप में न हो। फैले हुए दुःखों को देखकर यह मान लेना कि उनका कोई कारण नहीं है, भयंकर भूल है। जब हम दुःख को देखें तो ईश्वर की न्याय-व्यवस्था को लक्ष्य में रक्खें और इस परिणाम पर पहुँचे कि जो दुःख हमें मिला है उसका कारण हमारे ही कुकर्म हैं, जिन्हें तुरन्त छोड़ देना चाहिये।

मूल निर्माण—

निर्माण की अनेक योजनायें प्रचलित हैं। उनसे बाहरी जगत का निर्माण हो सकता है, वास्तविक निर्माण मानव-निर्माण है। मानव-निर्माण से अभिप्राय मनुष्य की मानसिक वृत्तियों को मर्यादित करना है। इसलिये मानव-निर्माण की सबसे अधिक आवश्यकता है और गायत्री मन्त्र में मानव निर्माण का ही पूरा विधान है। इस मन्त्र से बुद्धि पवित्र होकर, हृदय-जगत् सुव्यवस्थित बन जाता है। मन-मन्दिर का निर्माण हो जाने पर बाह्य जगत् का निर्माण तो अपने आप हो जायगा। बाहर की दुनिया का तो निर्माण करना, और मानव-

निर्माण की ओर ध्यान न देना, अधूरा प्रयत्न है जो उद्देश्य पूरा नहीं होने देता।

तृष्णा और तृप्ति—

हमने ऊपर यह दर्शाया कि संसार के रचित पदार्थों का प्रयोग ही जीवन है। ये पदार्थ इतने आकर्षक और विचित्र हैं कि उनसे तृष्णा कभी पूरी नहीं हो सकती। प्राप्त वस्तु से अधिक की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। इस मन्त्र में यह आदेश है कि हम पदार्थ को देखें और ईश्वर को उसका रचयिता मानें। अपने अधिकारों को देखें और अनुचित तृष्णा से बचे रहकर जीवन-निर्वाह करें। इसका नाम ही तृप्ति है। केवल दुनिया को लक्ष्य में रखकर जीवन-निर्वाह करना सफल जीवन नहीं हो सकता। जो आदमी दीन को भूलकर केवल दुनिया का ध्यान करता है, वह न दीन का रहता है न दुनिया का। धार्मिक जीवन की आवश्यकता तृष्णा के बुरे प्रभाव से बचे रहने के लिये है। धार्मिक जीवन से ही तृप्ति हो सकती है। हम अपनी अवस्था को अपने आप अपने अनुकूल नहीं बना सकते, क्योंकि असली व्यवस्था करने वाला परमात्मा है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी अवस्था को ईश्वरीय व्यवस्था के अनुकूल समझ कर उस पर सन्तोष करें। जितना मिल जाये उसके लिये ईश्वर को धन्यवाद दें, जितना और आवश्यक हो उसके लिये पूरा पुरुषार्थ करें। पुरुषार्थ द्वारा ही जीवन सफल और पवित्र बन सकता है।

भवसागर से पार—

मनुष्य के लिये भावनाओं का सागर बहुत बड़ा और गहरा है। मनुष्य के भीतर इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार की तरंगें उठती हैं। इस भवसागर से पार होने के लिये आवश्यक है कि मन वशीभूत हो यानी उस पर आत्मा का नियन्त्रण हो। ज्ञानेन्द्रियों और कर्म्मेन्द्रियों पर भी मन का नियन्त्रण रहे। यदि भवसागर से पार होना है तो भावनाओं को मर्यादित करना होगा; नहीं तो डूबने में कोई सन्देह नहीं।

बेड़ा-पार—

मनुष्य-जीवन की यात्रा से उपमा दी गई है। यात्रा पर चलने के लिये मनुष्य को उसके योग्य अपने को बनाना होगा। यह यात्रा इस प्रकार करनी होगी कि यात्री बीच में विचलित न होकर उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाय। सफल जीवन का नाम ही बेड़ा-पार होना है।

अंकुश की आवश्यकता—

संसार में देखा जाता है कि जब कोई पशु अन्य प्राणियों के सम्पर्क में आने और प्रयोग में लाने के लिये तैयार किया जाता है तो, उसके लिये एक अंकुश की आवश्यकता होती है। बैल के लिये नाथ, ऊँट के लिये नकेल, घोड़े के लिये लगाम और हाथी के लिये त्रिशूल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मनुष्य के लिये अंकुश चाहिये जो आन्तरिक रूप से मन को सयत करने वाला हो। यह अंकुश दैवी शक्ति में विश्वास रखने के रूप में ही हो सकता है। यदि ईश्वर का दिव्य-स्वरूप मनुष्य के सम्मुख रहे और यह बात न विसारी जाय कि ईश्वर सर्व-व्यापक तथा न्यायकारी है तो वह इन बुरी आदतों से बच जायेगा।

बिना ब्रेक की मोटर—

जितनी मोटर की शक्ति है उसके लिये उतनी ही मजबूत और बड़ी ब्रेक चाहिये। मोटरों की शक्ति अश्व-शक्ति के आधार पर नापी जाती है। मन को भी अश्व से उपमा दी जाती है। मन को प्रगति ठीक रखकर उसे पथ-भ्रष्ट होने से बचाने के लिये उसे एक ब्रेक या अंकुश चाहिये। यह ब्रेक परमात्मा की सत्ता में अटल विश्वास रखना है। हम गायत्री मन्त्र को मन रूपी अश्व के लिये, ब्रेक के स्थान में प्रयुक्त कर सकते हैं।

बुद्धि की महिमा—

शरीर रूपी नौका का केवट केवल हमारा सिर और मस्तिष्क है। पशुओं से विशेषतः विभिन्नता प्राप्त कराने के लिये मनुष्य की बुद्धि ही

मुख्य साधन है। यदि बुद्धि भ्रष्ट हुई तो हमारी सारी शक्तियाँ हमारे ही लिये नहीं दूसरों के लिये भी हानिकारक बन जायँगी। जिसने आगरे के पागलखाने में स्वस्थ हट्टे-कट्टे मनुष्य रूपी पशुओं को पागल पन की हालत में देखा है, वह बुद्धि की महिमा समझ सकता है। पागलखाने के इन्चार्ज डाक्टर ने एकबार मुझ से कहा कि जितने पागल, पागलखाने में बन्द हैं, उनसे कहीं अधिक बाहर घूम रहे हैं और जिनमें से बहुत-से तो ज्ञान की दृष्टि से पागल हैं, कितने ही कर्म दृष्टि से और कोई भोग की दृष्टि से। जिनका ज्ञान, कर्म और भोग समन्वित हो उन महान् पुरुषों के तो कहीं-कहीं और कभी-कभी ही दर्शन होते हैं। बुद्धि की महिमा अधिक दर्शाने की आवश्यकता नहीं है। संकेत मात्र से हम पाठकों को वैज्ञानिक जगत् की ओर ले जाना चाहते हैं। विज्ञान ने अनेक विज्ञान-वेत्ताओं को ईश्वर-भक्त और जन-सेवक बनाने के स्थान पर, नास्तिक तथा जगत् को हानि पहुँचाने वाला बना दिया। एक बुद्धि के बिगड़ जाने से सारे ज्ञान और कर्म का बिगाड़ हो जाता है। गायत्री मन्त्र को इसीलिये बड़ा महत्त्व दिया गया है, क्योंकि इससे बुद्धि शुद्ध, पवित्र और मर्यादित होती है। गायत्री मन्त्र का संक्षिप्त अर्थ तो ऊपर दिया जा चुका है। अब हम पाठकों के लाभार्थ कुछ विस्तार से इस मन्त्र का भाव प्रकट करना चाहते हैं।

भूर्भुवः स्वः से वही अभिप्राय है जो सच्चिदानन्द शब्द से है। परमात्मा के तीन विशेष गुण हैं—अर्थात् परमात्मा सदैव समान रहता है, अनादि, चैतन्य और परम आनन्दयुक्त है। भूः शब्द सत्ता का द्योतक है, भुवः चेतनता का और स्वः सुख और आनन्द का। जीवात्मा के लिए भी इन तीन गुणों की आवश्यकता है। दीर्घ आयु, अमर पद या मोक्ष-प्राप्ति और आनन्द। जब जीव परमात्मा के तीन विशेष गुणों का चिन्तन करेगा तब उसे भी वैसे ही गुण प्राप्त होंगे। इन तीनों से पूर्व ओ३म् शब्द है, उसके सम्बन्ध में केवल इतना लिखना पर्याप्त है कि यह परमात्मा का मुख्य नाम है और इस नाम के अन्तर्गत उसके

सब अन्य नाम आ जाते हैं। इनके पश्चात् इस गुरु मन्त्र में परमात्मा को जो-जो विशेषण दिये गये हैं वे भी बहुत शिक्षाप्रद हैं। सविता से उस ईश्वर का अभिप्राय है जो सब जगत् का उत्पादक और समस्त ऐश्वर्य देने वाला है।

देवस्य का अर्थ है, सब आत्माओं का प्रकाशक और सब सुखों का दाता।

वरेण्यम् अर्थात् अत्यन्त ग्रहण करने योग्य।

'भर्गः' का अर्थ विशुद्ध स्वरूप है। इन विशेषणों को समझ लेने से सारा ब्रह्माण्ड परमात्मा से आच्छादित और प्रभावित दृष्टिगोचर होगा। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, और जिन्होंने अनेक बार अनेक प्रकार के रूप धारण किये हैं, उन सब का रचयिता परमात्मा है। ज्ञान का आदि स्रोत भी परमात्मा ही है। यदि कहीं यह प्रश्न उठे कि हम अपना मस्तक किसके आगे झुकावें तो, बुद्धि पूर्वक विचार करने से, प्रत्येक आत्मा में यही ध्वनि उठेगी, कि परब्रह्म परमात्मा ही वरेण्यं अथवा धारण करने योग्य है। उस एक के साधने से ही हमारे सारे कार्य सिद्ध हो जायेंगे। जब से आर्य-जाति ने परमात्मा का सहारा छोड़कर, प्रकृति का सहारा लिया है, तब से उसके पतन की सीमा नहीं रही। ऐसे महान् गुणधारी परमात्मा से हम यही याचना कर सकते हैं कि वह हमें मेधा बुद्धि प्रदान करे, जिससे हम लोग प्रेम तथा भक्ति से निश्चय करके, सदा परमात्मा को अपने आत्मा में धारण करें। धारण करने का प्रयोजन यह हो कि परमपिता परमात्मा कृपा करके हमारी बुद्धियों को बुरे कामों से दूर रखे और उत्तम कार्यों में प्रवृत्त करे।

जीवन का उद्देश्य

प्राचीन वैदिक संस्कृति के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार जीवन के लक्ष्य बताये गये हैं। मनुष्य-जीवन में अर्थ और काम की व्यवस्था होनी आवश्यक है। यानी बेईमानी और बदचलनी से बचना जरूरी है। यह व्यवस्था धर्म से पूरी हो सकती है। और

गायत्री मन्त्र धर्म का मूल मन्त्र है, इससे अर्थ और काम की व्यवस्था होगी। धर्म से विमुख होकर, काम तथा अर्थ-व्यवस्था की आशा रखना दुराशा मात्र है। जीवन की सारी कामनायें अर्थ और काम के अन्तर्गत आ जाती हैं। यदि अर्थ-व्यवस्था नहीं होगी तो अर्थोपार्जन में अनर्थ हुए बिना न रहेगा।

अनेकता में एकता—

संसार में देश, जाति, लिंग, रंग, रूप, भाषा इत्यादि के आधार पर अनेक प्रकार के भेद प्रचलित हैं। यदि इन भेदों के रहते हुए एकता की भावना उत्पन्न करनी है तो संसार के सब मनुष्यों को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि सारे मनुष्य उस एक ही ईश्वर के उपासक हैं, वही सबका आदि गुरु है और वही संचालक है। इस एकता-आधार पर सब एक ही सूत्र में पिरोये जाकर, सुन्दर माला के मनके बन जायेंगे और एकता लाने के लिये भेदों के मिटाने की आवश्यकता न होगी। गायत्री मन्त्र यदि मानव मात्र के लिये मुख्य मन्त्र बन जाये तो सारा संसार एक प्रेम सूत्र में बँध जायेगा।

देश-प्रेम व विश्व-प्रेम—

अपने-अपने देश का प्रेम बड़ा उत्तम और लाभदायक है, परन्तु यह देखने में आता है कि केवल अपने देश का प्रेम कभी-कभी संसार के लिये हानिकारक हो जाता है। संसार में अशान्ति, देशभक्ति के कारण उत्पन्न होती है। गुरु मन्त्र के आधार पर देश-प्रेम विश्व-प्रेम का रूप धारण कर लेगा और संसार में स्नेह-संचार होने लगेगा।

व्यक्ति और समाज—

गुरु मन्त्र चरित्र-निर्माण का मुख्य मन्त्र है। इस मन्त्र से ब्रह्मचारी सच्चा ब्रह्मचारी बनता है अर्थात् वह अपना जीवन ज्ञान तथा ईश्वर के आदेश के अनुसार बना सकता है। साथ ही आचार्य भी अपना जीवन पवित्र बनाता हुआ, अपने ब्रह्मचारियों का जीवन भी पवित्र बना सकेगा।

सुख और शान्ति—

गायत्री मन्त्र से केवल सुख की प्राप्ति नहीं होगी, केवल दुःख निवारण नहीं होगा बल्कि आत्मिक शान्ति भी मिलेगी और आनन्द का भी कारण यह मन्त्र बन सकेगा।

महर्षि दयानन्द व गायत्री मन्त्र

पिता-माता व अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थ सहित गायत्री मन्त्र का उपदेश कर दें। इस मन्त्र में जो प्रथम (ओ३म्) है उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं। "भूरिति वै प्राणः" "यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः" जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक हो के "भूः" परमेश्वर का नाम है। "भुवरित्यपानः" यः सर्व दुःख मपानयति सोऽपानः जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दूःखों से छूट जाते हैं इसलिये उस परमेश्वर का नाम "भुवः" है। "स्वरिति व्यानः" "यो विविध जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः उस परमेश्वर का नाम "स्वः" है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक [प्रपा० ७। अनु० ५] के हैं। (सवितुः) "यः सुनोत्युत्पादयति सर्व जगत् स सविता तस्य" जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है (देवस्य) "यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः" जो सर्व सुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) "वर्त्तुमर्हम्" स्वीकार करने योग्य अति श्रेष्ठ (भर्गः) "शुद्धस्वरूपम्" शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) "धरमेहि" धारण करें। किस प्रयोजन के लिये कि (यः) "जगदीश्वरः" जो सविता देव परमात्मा (नः) "अस्माकम् हमारी (धियः) "बुद्धीः" बुद्धियों को (प्रचोदयात्)" प्रेरयेत् प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ा कर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।

(सत्यार्थप्रकाशः शताब्दी-संस्करणम् पृष्ठ १२१)

ओ३म्

महात्मा गान्धी और गायत्री मन्त्र

वर्तमान काल के महान् नेता महात्मा गान्धी जो कोई भी छोटा-बड़ा कार्य प्रभु-आराधना के बिना आरम्भ ही नहीं करते थे, गायत्री-मन्त्र के सम्बन्ध में "यंग इण्डिया" (२४ मार्च, १९२०) में लिखते हैं—

"इसके उपरान्त उपवास, व्रत और प्रार्थना है, यह एक प्राचीन प्रथा है। पूर्ण उपवास शरीर, मन और आत्मा तीनों को शुद्ध करता है। इससे मज्जा गल-पच जाती है, अर्थात् आत्मा के ऊपर से निरर्थक बोझ का भार हट जाता है। यदि प्रार्थना हृदय से निकलती है, तो उसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। प्रार्थना प्रकट करती है कि आत्मा एक उन्नत अवस्था से दूसरी उन्नतावस्था को पहुँचने के लिये आतुर हो रही है। इस प्रकार प्राप्त पवित्रता का प्रयोग जब उच्च तथा महती आकांक्षाओं से होता है, तो वही सच्ची प्रार्थना कही जाती है।

गायत्री मन्त्र का निरन्तर जप रोगियों को अच्छा करने के लिये है। इसका प्रयोग, प्रार्थना की उस परिभाषा को जिसे हमने ऊपर दिया है, सर्वथा चरितार्थ करता है। यदि इसी गायत्री मन्त्र का जप अनवरत चित्त और शान्त हृदय से राष्ट्र के आपत्काल में किया जाता है तो, उन संकटों को मिटाने के लिये प्रभाव और पराक्रम दिखलाता है।

जिन लोगों का यह विश्वास है कि मन्दिरों में जाकर गायत्री का जाप करना, मसजिदों में पाँच समय निमाज पढ़ना और गिरजों में जाकर प्रार्थना करना केवल मूर्खता और अपढ़ लोगों को ठगने और धोखा देने की विडम्बना तथा अन्ध विश्वास का नमूना है, वे भ्रम में फँसे हुए हैं। वरन् मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि इससे बड़ी कोई भूल मनुष्य से हो ही नहीं सकती। "यंग इण्डिया" हिन्दी, प्रथम भाग पृष्ठ, ८८, ८९, सत्याग्रह-आन्दोलन प्रथम खण्ड।"

महात्मा गान्धी एक जिज्ञासु के प्रश्न का उत्तर देते हुए ९ मार्च १९४० के "हरिजन-सेवक" में लिखते हैं—

"मैं आपसे बिल्कुल सहमत हूँ कि संस्कृत की पढ़ाई की बुरी तरह उपेक्षा की जा रही है। मैं तो उस पीढ़ी का आदमी हूँ, जिसका प्राचीन भाषाओं की पढ़ाई में विश्वास था। मैं यह नहीं मानता कि ऐसी पढ़ाई से समय और शक्ति का नाश होता है। मैं तो यह मानता हूँ कि इससे आधुनिक भाषाओं की पढ़ाई में भी मदद मिलती है। जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, यह बात किसी और प्राचीन भाषा की अपेक्षा संस्कृत पर अधिक लागू होती है और हर एक राष्ट्रवादी को संस्कृत पढ़नी चाहिये, क्योंकि इससे प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन आसान हो जाता है। इसी भाषा में तो हमारे पूर्वजों के विचार और लेख हैं। यदि हिन्दू बच्चों को अपने धर्म की भावना हृदयंगम करानी है, तो एक भी लड़के या लड़की को संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं रहना चाहिये। देखिये, गायत्री का अनुवाद हो ही नहीं सकता। मेरी राय में इसका एक खास अर्थ है। मूल मन्त्र में जो संगीत है, वह अनुवाद में कहाँ से आयेगा। मैंने जो कुछ कहा है गायत्री तो उसका एक उदाहरण मात्र है।"

अब भी यदि इन खरड़ ज्ञानियों की तसल्ली नहीं होती या उन्हें विश्वास नहीं आता तो यह उनका अपना भाग्य अथवा दुर्भाग्य ही है।

अन्त में दो शब्द और भी कह दूँ। वे यह कि मनुष्यमात्र का अर्थात् आर्य या हिन्दूमात्र का यदि आप कोई एक मन्त्र बनाना चाहते हैं, या एक झण्डा लहराना चाहते हैं या वेद भगवान और ऋषि की आज्ञा का पालन करना चाहते हैं, तो नगर-नगर, ग्राम-ग्राम, गली-गली, कूचे-कूचे और घर-घर में इस गुरु मन्त्र-गायत्री और महामन्त्र ओउम् का पूरे-पूरे बल और शुद्ध पवित्र मन से, जाति, मत और सम्प्रदाय का भेद-भाव मिटा कर जाप आरम्भ करादें, जिससे वैदिक धर्म का विशेष प्रचार हो सके।

(श्री स्वामी प्रभु आश्रितजी की पुस्तक 'गायत्री-रहस्य' से उद्धृत)

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में लिखा है :—

भारतवर्ष को जगाने वाला जो मन्त्र है, वह इतना सरल है कि एक ही श्वास में उसका उच्चारण किया जा सकता है, वह है 'गायत्री मन्त्र।'

ओं भूर्भुवः स्वः

गायत्री के इस अंश का नाम व्याहृति है। व्याहृति के अर्थ हैं चारों ओर से इकट्ठा करके ले आना। पहले 'भूर्भुवः स्वः' इन तीनों लोकों अर्थात् सारे जगत को मन में इकट्ठा करके लाना चाहिए। अर्थात् यह अनुभव करना चाहिये कि मैं किसी देश विशेष का रहने वाला नहीं हूँ, प्रत्युत विश्वजगत का अधिवासी हूँ। मैं जिस राजमहल का रहने वाला हूँ, ये लोक-लोकान्तर, उसकी एक-एक दीवारमात्र हैं।

इस प्रकार प्रतिदिन, कम से कम एक बार, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहों और नक्षत्रों के मध्य में खड़ा करके अपने आप को देखना चाहिये। इस छोटी-सी पृथ्वी की संकुचित सीमा से निकल कर अखिल जगत के साथ अपना चिर सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

जिस प्रकार स्वास्थ्य चाहने वाला मनुष्य अपनी तंग और बन्द कोठरी से बाहर निकल कर प्रतिदिन प्रातःकाल अपरिमित खुले मैदान में शुद्ध वायु सेवन के लिए जाता है, उसी प्रकार प्रति दिन असंख्यात नक्षत्रों से सुजटित इस जगत में खड़ा होकर इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

यह सारा जगत जिस शक्ति से विकसित हो रहा है, उसी दिव्य ज्योति का हम ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धियों की प्रेरक—चलाने वाली होवे।

ब्रह्म का ध्यान करने की यह प्राचीन पद्धति जैसी महान् और उदार है, वैसी ही अत्यन्त सरल भी है। इसमें किसी प्रकार की व्यर्थता और बनावट का प्रवेश नहीं है।

बाह्य जगत और अन्तर बुद्धि—इन दोनों को छोड़ कर, हमारे पास है ही क्या ? इस जगत और धी को भगवान अपनी अथक शक्ति से रात-दिन प्रेरणा कर रहे हैं। इसी बात को अनुभव कर लेने से भगवान के साथ हमारा सम्बन्ध चिर स्थापित किया जा सकता है। मैं नहीं जानता कि यह कार्य किसी अन्य कौशल, सामग्री, कृत्रिम साधन अथवा मानसिक विचारोद्वेग से सम्भव है।

इस पुनीत मन्त्र के अभ्यास में अन्य किसी प्रकार के तार्किक ऊहापोह, किसी प्रकार के मतभेद अथवा किसी प्रकार के बखेड़े का अवकाश नहीं है और न इसके अन्दर कोई विशेष व्यक्तिगत समीपता अथवा संकीर्णता ही पाई जाती है।

(स्व० स्वामी वेदानन्द तीर्थ की पुस्तक 'सावित्री-प्रकाश' से उद्धृत)

७—चरित्र और मनोरंजन

राष्ट्र-निर्माण और समाज-निर्माण सबसे आवश्यक कार्य हैं। बालक और बालिकाओं का निर्माण समाज-निर्माण और राष्ट्र-निर्माण के सबसे उच्च साधन हैं। निर्माण के आधार यही हैं। बालक और बालिकाओं की सबसे अधिक रुचि खेल तमाशे की ओर है। उनका सबसे अधिक मन इनमें ही लगता है।

जहाँ सबसे अधिक रुचि है उनको ही शिक्षा और दीक्षा का आधार बनाना आवश्यक है। खेल और तमाशे शिक्षाप्रद बनाने के लिये यह आवश्यक है कि निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान दिया जाये।

(१) खेल कैसे हों—खेलों के निर्वाचन में शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य और आत्मिक स्वास्थ्य पर ध्यान होना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से यह आवश्यक है कि खेल इस प्रकार के हों कि बालक और बालिकाओं के सब अंग बल-युक्त और स्वस्थ बने

रहें। मानसिक स्वास्थ्य के लिए बुद्धि का प्रयोग बढ़े यह भी आवश्यक है। खेलों से चरित्र पर किसी प्रकार का दोष न आये; यह भी ध्यान रखना आवश्यक है। खेलों में ऐसे चित्रों का प्रयोग नहीं होना चाहिए या ऐसे गानों का प्रयोग नहीं होना चाहिए जिनसे काम और क्रोध की भावना उत्तेजित हो।

(२) **खेलों में भावना**—(अ) मन लगा कर खेलना चाहिये।

(ब) निश्चित समय पर खेलने का प्रबन्ध होना चाहिए। खेलने में हार जाने पर क्रोध और द्वेष की भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। हार को आगामी जीत के लिए एक सीढ़ी या साधन मानना आवश्यक है। जो बालक या बालिकायें खेल में हार कर क्रोधित हो जाते हैं या जिनमें रोष उत्पन्न हो जाता है तो उनके अन्दर द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है, वैमनस्य पैदा हो जाता है और क्रोध की अग्नि में उनका रक्त और माँस भुन सा जाता है। जिसका स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

(ब) जीतने पर अभिमान नहीं होना चाहिए। अभिमान की भावना आ जाने से आगे की उन्नति रुक जाती है और फिर यदि कभी हार होती है तो प्रतिक्रिया स्वरूप बहुत बड़ी ठेस लगती है और बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

(द) खेलने में सामान्य भाव और सम्भाव होना चाहिए। खेलते समय छोटे-बड़े या ऊँच-नीच की भावना आ जाने से बुरा प्रभाव पड़ता है। साम्यवाद या सोशलिज्म की सबसे बड़ी शिक्षा स्पोर्ट्समेन स्प्रिट अर्थात् खिलाड़ी की भावना से मिलती है। खिलाड़ी की भावना इसलिए प्रसिद्ध है कि वह खेलते समय प्रेम और समन्वय से खेलता है। हार जाने पर उसके प्रेम में बाधा नहीं पड़ती और न जीतने पर उसके प्रेम में कमी आती है। जिस प्रकार खेल में हार और जीत दोनों अनिवार्य हैं इसी प्रकार सारे जीवन में हानि और लाभ का सामना करना पड़ता है। यदि खेल-कूद में मानसिक भावना और आत्मिक भावना मर्यादित हो जाय तो सारे जीवन में लाभ होगा।

(३) **खेलने में सभ्यता**—खेलते समय सभ्यता का पूरा ध्यान होना चाहिए। अपशब्दों का प्रयोग, अपमानजनक वाक्यों का प्रयोग सर्वथा त्यागना चाहिए। इस प्रकार की गालियाँ या अपशब्द जिससे माँ बहिनों का निरादर होता हो स्वप्न में भी प्रयोग में नहीं आनी चाहिए।

(४) **पृथक् क्रीड़ा-क्षेत्र**—बालक और बालिकाओं के पृथक् क्रीड़ा-क्षेत्र होने चाहिए और दोनों की रुचि और आवश्यकताओं को लक्ष्य में रख कर उनके खेल-कूद भी पृथक् होने चाहिए। एक ही प्रकार के खेलों से दोनों को कभी-कभी हानि भी होने की सम्भावना है।

(५) **खेल में निरीक्षण**—जिस प्रकार बालक और बालिकाओं को खिलौनों से प्रेम है उसी प्रकार वृद्ध माताओं और पिताओं को बालक और बालिकाओं से प्रेम होता है। उनके लिए वही खिलौने हैं। जो वृद्ध सज्जन पैनशन पा रहे हैं या कोई विशेष कार्य न करते हों उनको प्रातःकाल और सायंकाल बालक और बालिकाओं के खेलों के समय निरीक्षण का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिये। यदि वह नित्य प्रति इस कार्य में समय देंगे और इस बात का ध्यान रक्खेंगे कि क्रीड़ा-क्षेत्र में बालक और बालिकायें ठीक समय पर आयें। नित्य-प्रति आयें और खेलते समय किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार न करें तो बालक और बालिकाओं को भी लाभ पहुँचेगा और ऐसे सज्जनों का और देवियों का मनोरंजन भी होगा। बहुत से अवकाश प्राप्त वृद्ध सज्जन ऐसे हैं जिनको मन लगाने के लिये, समय बिताने के लिये कोई विशेष कार्य नहीं मिलता, उनको यह चिन्ता रहती है कि वह खाली समय में क्या करें और समय कहाँ और कैसे व्यतीत करें। ऐसों के लिये खेलों के समय निरीक्षण का कार्य बड़ा उपयोगी, मनोरंजक और लाभदायक होगा। प्रत्येक क्रीड़ा-क्षेत्र पर बालक और बालिकाओं की उपस्थिति का रजिस्टर रक्खा जा सकता है।

माता-पिताओं और संरक्षकों का सहयोग

क्रीड़ा-क्षेत्र में जो शिक्षा-प्रद कार्य हो सकता है वह माता-पिता और संरक्षकों के सहयोग के बिना पूरा नहीं हो सकता। बालक और बालिकाओं का बहुत बड़ा समय अपने गृह और परिवार में लगता है बहुत थोड़ा समय क्रीड़ा क्षेत्र और क्रीड़ा केन्द्रों में लगता है। क्रीड़ा क्षेत्र के निरीक्षकों का यह भी कार्य है कि वह माता-पिता और संरक्षकों से मिल कर उन पर इस प्रकार प्रभाव डालें कि वह बालक और बालिकाओं को ठीक समय पर नित्य प्रति क्रीड़ा-क्षेत्र में भेजें और इस बात का भी ध्यान रक्खें कि वह वहाँ से ठीक समय पर लौट आवें। और जो प्रभाव उन पर वहाँ पड़ा हो वह दिन के शेष भाग में या सोने से पहले दूर न हो सके। उनको यह भी ध्यान में रखना है कि वह गन्दे सिनेमा और अश्लील चित्रों के प्रदर्शन में सम्मिलित न हों।

विद्यालय और शिक्षालयों का सहयोग

गृह और परिवारों के अतिरिक्त विद्यालय और शिक्षालयों का भी इस पवित्र कार्य में पूरा सहयोग होना आवश्यक है। वहाँ की शिक्षा और दीक्षा उच्च भावना को प्रोत्साहन देने वाली है। वहाँ का वातावरण शुद्ध और पवित्र होना चाहिये। वहाँ किसी प्रकार का अनुचित प्रदर्शन नहीं होना चाहिये। यदि शिक्षालयों और विद्यालयों में इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो जो प्रभाव क्रीड़ा क्षेत्र पर उत्पन्न होगा उसका निराकरण वहाँ हो जायेगा। गृह, विद्यालय और क्रीड़ा-क्षेत्र में तीनों में समन्वय होना चाहिये। तीनों ही आवश्यक साधन हैं।

जनता का सहयोग

बहुत से माता-पिता और संरक्षक धन-हीन होने के कारण अपने बालक और बालिकाओं को स्वच्छ नहीं रख सकते। उनको साफ कपड़े नहीं पहना सकते और न उनके लिए दूध इत्यादि का प्रबन्ध कर सकते हैं। बालक और बालिकाएँ राष्ट्र की सम्पत्ति हैं उनकी स्वरक्षा और उन्नति के लिए हर प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिए। धन न होने का

बहाना नहीं होना चाहिए। जनता का दान, सबसे अधिक उपयोगी राष्ट्र के लिए इस कार्य में होगा। समाज कल्याण समितियाँ प्रत्येक हलके या मोहल्लों में बन जानी चाहिए और उनमें सम्मिलित कोष की व्यवस्था होनी चाहिए। जिसमें धन एकत्रित हो।

राष्ट्रीय सरकार का सहयोग

बालक और बालिकाओं का निर्माण राष्ट्र निर्माण का सब से आवश्यक अंग है और इसलिये केन्द्रीय और प्रदेशीय सरकारों से अनुरोध करना चाहिए कि वह इस कार्य की ओर सब से अधिक ध्यान दें। प्रारम्भिक शिक्षा या तो महिलाओं के आधीन हो या वृद्ध अवकाश प्राप्त सज्जनों के आधीन हो। अल्प आयु वाले नवयुवक वेतन की वृद्धि के लिये चिन्तित और जो भूख हड़ताल पर उद्यत हैं, ऐसे अनुभव शून्य अध्यापकों से यह कार्य पूर्ण नहीं हो सकता।

अन्तिम निवेदन

यदि ऊपर लिखी सब बातों पर ध्यान दिया जाए और उनको कार्यरूप में परिणत किया जाये तो बच्चों के खेल तमाशे एक महत्वपूर्ण कार्य का रूप धारण कर लेंगे और खेल खेल में ही कार्य सफल हो जायगा। मनोरंजन भी होगा और मन का मार्जन भी। बुद्धि का विकास भी होगा। शरीर बलयुक्त होगा और इन सब को प्रयोग में लाने वाला आत्मा महान बनेगा। प्रत्येक कार्य में प्रत्येक क्षण बालक और बालिकाओं पर ईश्वर की सत्ता का, उसकी छत्र छाया का, उसके अनुशासन का प्रभाव डालना चाहिये। अनुशासन का सम्बन्ध अन्दर के शासन से है। बाहर का शासन उसका वाह्य रूप है। अनुशासन-हीनता का निराकरण अन्दर के अनुशासन को ठीक करने से हो सकता है। प्रत्येक क्रीड़ा-क्षेत्र में आरम्भ में ईश्वर प्रार्थना और अन्त में ईश्वर प्रार्थना होना अनिवार्य होना चाहिये। इससे अनुशासन की भावना अस्थाई रूप से प्रचलित हो सकेगी। देश भक्ति के लिये वन्दे मातरम् उपयोगी है। परन्तु देश भक्ति से बहुत ज्यादा उपयोगी संसार भक्ति है और इसलिये वन्दे-मातरम से पहले पृथ्वी माता की

वन्दना और परम पिता परमात्मा की वन्दना होनी चाहिए। परम पिता परमात्मा और पृथ्वी माता को लक्ष्य में रख कर सारे प्राणी मात्र बन्धुत्व के सूत्र में बँध जायँगे। जात, देश, रंग, लिंग, भाषा इत्यादि के भेद होते हुए भेद-भाव नहीं रहेगा और एक प्रेम की धारा उन्नति का प्रवाह लिये हुए सारे राष्ट्र में प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होगी।

८—चरित्र और अपराध निरोध

अपराध किसे कहते हैं ?

अपराध भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा जाता है। धार्मिक जगत् में इसे पाप कहते हैं, अर्थशास्त्र तथा व्यावसायिक जगत् में बेईमानी और सामाजिक क्षेत्र में इसे कसूर या अनुचित व्यवहार कहते हैं। कानून और न्याय की दृष्टि में इसे अपराध (जुर्म) कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस क्षेत्र में जिस समय जो काम नहीं करना चाहिये, वह करना अपराध है।

क्या नहीं करना चाहिए ?

सब लोग अपनी सम्पत्ति और अपने शरीर की रक्षा चाहते हैं। कोई नहीं चाहता कि उसे किसी प्रकार की तकलीफ़ पहुँचे; कोई जरा सी चीज भी उसकी इच्छा के विरुद्ध ली जाय, छीनी जाय या उसे धोखा दिया जाय अथवा कोई उसकी माँ या बहन को बुरी निगाह से देखे या उससे झूठ बोले। जो हम अपने लिए चाहते हैं, वही हमें दूसरों के साथ भी करना चाहिये। कभी किसी प्रकार से कोई ऐसा काम न किया जाय, जिससे दूसरे को तकलीफ पहुँचे या दुःख हो।

अपराध क्यों किये जाते हैं ?

यह जानते हुए भी कि अपराध नहीं करने चाहिएँ, अवसर आ जाने पर हम अपराधी बन जाते हैं और अनुचित काम कर बैठते हैं। ऐसा क्यों ? इसके दो कारण हैं :—

आन्तरिक कारण

अपराध करने वाला काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के वशीभूत होकर अपराध करता है। ये सब विकार और बुराइयाँ हृदय और मन से सम्बन्धित हैं और यही अपराध की जड़ है। अपराधों को रोकने के लिये इन विकारों के निवारण पर ध्यान देना होगा।

बाह्य कारण

बहुधा बाह्य परिस्थिति के कारण भी अपराध किए जाते हैं; अर्थात् निर्धनता, अशिक्षा, कुसंग, कुटेव, दुर्व्यसन आदि भी अपराध के कारण बन जाते हैं। जो कुछ हम खाते-पीते, देखते-सुनते, पढ़ते या मनन करते हैं, सबका प्रभाव हमारे आचार-विचार तथा व्यवहार पर पड़ता है। अपराध रोकने के लिये आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के कारणों को दूर करना होगा।

अपराध कैसे रोके जावें ?

अपराध के बाह्य और आन्तरिक कारण रोकने के लिये धर्म, शिक्षा, व्यवसाय, कृषि, विकास-संघ, सहयोग-विभाग आदि सभी क्षेत्रों के समर्थकों के सहयोग की आवश्यकता है। अपराध-निरोध ही ऐसा कार्य है जो सबको करना है और जिसमें सब प्रकार के लोग एक वेदी पर आकर कन्धे से कन्धा भिड़ा कर कार्य कर सकते हैं। पुलिस, जेल, अदालत, मजिस्ट्रेट, जज, शिक्षा-विभाग और अर्थशास्त्र सम्बन्धी कार्य करने वाले सब ही को इसमें सहयोग देने की आवश्यकता है।

अपराध-निरोध और मनोविज्ञान

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपराध करते समय दो प्रकार की भावनाएँ काम करती हैं—(१) अपराध करना चाहिये या नहीं, और (२) अपराध के दण्ड से कैसे बचा जाय। अपराध के दण्ड से बचने की भावना एक प्रबल भावना है। अपराधी अपने अपराध को छिपा कर या दण्ड देने वाले को बहका-फुसला, भ्रम में डाल अथवा लोभ

देकर दण्ड से बचने की भावना करके अपराध करने को उद्यत हो जाता है। यदि यह भावना दूर हो जाय तो बहुत से अपराधी अपराध करने से बच सकते हैं। ऐसी एक सत्ता में विश्वास करने से, जिससे कुछ छिपाया नहीं जा सकता और जिसके न्याय में बाधा नहीं डाली जा सकती, यह भावना दूर हो सकती है; और ऐसी सत्ता में विश्वास के लिये हाजिर और नाजिर की शपथ बहुत उपयोगी है। इसका प्रभाव क्रियात्मक जीवन पर पड़ सकता है।

मानसिक जगत् की व्यवस्था

मानसिक जगत् की व्यवस्था के लिये यह बात ध्यान में रखनी है कि लोक-नियम और राज-नियम मानसिक जगत् और विचार-जगत् पर प्रभाव नहीं डाल सकते। उनका सम्बन्ध केवल कही हुई बात और किये हुए काम तक है। जब तक यह कल्पना मन में रहती है, न कोई उसकी बुराई कर सकता है, न किसी को उसके अपराध का पता चल सकता है और न कहीं उसकी पकड़-धकड़ हो सकती है। फलतः यही कल्पना सब अपराधों का आधार या मूल बन जाती है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह-स्रोत रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार बुरी कल्पनाओं के उत्पन्न हो जाने पर केवल राजनियम और लोक-नियमों के आधार पर अपराधों का निवारण नहीं हो सकता। मन की अनुचित भावना दैविक नियम से ठीक होगी, जिनका मानसिक जगत् में प्रभाव है। इसके लिये ईश्वर की सत्ता में विश्वास और दैविक नियमों का पालन करना अनिवार्य है।

अपराध और उनका उपचार

अपराध करना या अपराधी बनना, एक भयङ्कर रोग है। जैसे अन्य प्रकार के रोगों की औषधियाँ होती हैं, उसी प्रकार अपराध रोग की भी उपचार-विधि होनी चाहिये। जो सम्बन्ध चिकित्सा विभाग से है वही सम्बन्ध पुलिस और मजिस्ट्रेसी में होना चाहिये और जो सम्बन्ध डाक्टर और अस्पताल में रहने वाले रोगियों से है वही सम्बन्ध मजिस्ट्रेट और जेल-विभाग से होना चाहिये। जेलों

को नैतिक अस्पतालों की परिस्थिति में लाना होगा। केवल दण्ड के लिये नहीं, सुधार के लिये जेलों की आवश्यकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के कारण अपराध करने वालों के रहन-सहन, शिक्षा दीक्षा के आधार पर जेलों में इस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिये जिससे अपराधियों के मन से पाप का अंकुर दूर हो सके। केवल कुछ समय तक पाप-कर्म से रुके रहना और ऊँची-ऊँची दीवारों के अन्दर रहना पर्याप्त नहीं है। हाथ पैर रुके रहें और मन में पाप की वासना बढ़ती रहे, इससे कोई लाभ नहीं।

एक बात और

जब कष्ट होता है या दुःख पड़ता है, तब हम शिकायत करते और विलाप करते हैं, अपने कष्ट का उत्तरदायित्व दूसरों पर डालना चाहते हैं। राज्य-मन्त्री प्रजा पर उत्तरदायित्व रखते हैं और प्रजा मन्त्रियों पर। जिसे दुःख है वह उसी के कर्मों के कारण होगा, इस लिये शिकायत और विलाप की बात छोड़ कर क्रियात्मक सुधार की ओर दृष्टि डालनी चाहिये।

अंकुश

बाह्य अंकुशों की परीक्षा बहुत हो चुकी। बाह्य अंकुश जितने लगाये गये उतने ही अपराध और बढ़े, क्योंकि बाह्य अंकुश आन्तरिक लाभ नहीं पहुँचा सकते। आवश्यकता है आन्तरिक अंकुश की। आन्तरिक अंकुश का नुस्खा है, उपर्युक्त हाजिर और नाजिर।

अधिकार और कर्त्तव्य

अन्त में अधिकार और कर्त्तव्य के सम्बन्ध को भी समझ लेना आवश्यक है। कर्त्तव्य-पालन न करके केवल अधिकारों की पुकार से अपराधों की वृद्धि होती है, अशांति बढ़ती और असन्तोष फैलता है। प्रजातन्त्र के नाम पर अराजकता और अव्यवस्था को बल मिलता है। कर्त्तव्य पालन की भावना अधिकारों को प्राप्ति को न केवल सुगम बनाती है, प्रत्युत अधिकारों के सदुपयोग में भी सहायक होती है।

अपराध-निरोध

सम्प्रति अपराधों की बाढ़ आगई है। प्रत्येक व्यक्ति वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन में अपराध करने को उद्यत हो जाता है, और अपराध करते-करते अपराध करना अन्ततः उसका स्वभाव-सा बन जाता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से कभी-कभी तो ऐसी दशा हो जाती है कि अपराध करने वाला व्यक्ति अपने अपराधों को अपराध ही नहीं समझता और न उसके मन में यह ध्यान आता है कि मैं अपराध कर रहा हूँ। अपराध करने वालों का वातावरण भी ऐसा हो जाता है कि सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति उसके अपराध को अपराध न समझ कर उलटा यश का कारण समझते हैं। जब कभी किसी को अपनी बहन या पुत्री के लिये वर खोजना पड़ता है तो वर की आर्थिक स्थिति जानने के सम्बन्ध में ऊपरी आय का प्रश्न भी बड़ा अर्थ रखता है। यदि 'ऊपर की आमदनी' अर्थात् रिश्वत और बेईमानी की आमदनी जनता के दृष्टिकोण में आय का साधन समझी जाने लगे और उसके आधार पर विवाह जैसे गम्भीर प्रश्न का समाधान आश्रित हो सके तो फिर घूंस या रिश्वत लेना, बेईमानी या चोरबाजारी करना इत्यादि दुष्कृत्य या अपराध कैसे समझे जायँ और उनसे कैसे छुटकारा हो। ऐसे विषाक्त वातावरण से मुक्ति पाने के लिये जनता में सबल चेतना उत्पन्न करने की आवश्यकता है, जिससे अनुचित कार्य को प्रत्येक दृष्टि से बुरा समझा जाय; फिर सांसारिक दृष्टि से यह कार्य कितना ही लाभदायक क्यों न हो। बेईमानी बेईमानी ही है; चाहे वाह्य दृष्टि से वह कितनी ही लाभदायक क्यों न हो।

एक और कठिनाई

जब अपराध करने वालों की संख्या अपराध न करने वालों की अपेक्षा अधिक होती है, तो अपराध करने वाला अपने को बड़े बहुमत का अधिकारी समझता है। यदि किसी से कहा जाय कि भाई बुराई मत करो तो वह यह उत्तर देता है, कि ऐसा कौन है जो बुराई नहीं

करता। जिसको अवसर मिलता है वह अवश्य बेईमानी करता है, जिसको अवसर नहीं मिलता वह केवल उपदेश करता रहता है। यह कलियुग है, इसमें हरिश्चन्द्र और वशिष्ठ की आवश्यकता नहीं है, इस युग में बेईमानी के बिना निर्वाह नहीं होता और न हो सकता है। सब बेईमानी करते हैं और करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह करने में आपत्ति ही क्या है? बाल-बच्चों को पढ़ाना-लिखाना और उनका पेट भरना है। लक्ष्य पूरा करना है और उद्देश्य को सफल बनाना है, ऐसी दशा में साधनों की अच्छाई-बुराई पर विचार करना व्यर्थ है। उपर्युक्त मनोविज्ञान बड़ा जटिल और अत्यन्त भ्रम-मूलक है। अपराधों का प्रवाह इतनी तीव्र गति से बहने लगा है कि उसमें पड़ कर अच्छे अच्छों के पैर उखड़ गये हैं। सब जीवन-निर्वाह रूपी नदी की मझधार में हैं। इस पार या उस पार लगना दोनों कार्य कठिन हैं। ऐसी परिस्थिति में अपराधों की बाढ़ को रोकने के लिये क्या करना चाहिये। किस प्रकार से बन्द लगाये जावें। उपर्युक्त मन्द मनोवृत्ति में जब तक सुधार नहीं होगा तब तक अपराध निरोध-समस्या का समाधान असम्भव नहीं तो कष्ट-सम्भव अवश्य है।

अनेक उपाय

राज्य-दण्ड—अपराधों को रोकने के लिए नये-नये कानून बनाना भी एक उपाय हो सकता है और सम्प्रति यह उपाय बहुत आवश्यक समझा जाता है। वर्तमान लोकतन्त्र-पद्धति में भी इस ओर ध्यान दिया गया है; परन्तु केवल राज्य-नियम बनने से अपराध नहीं रुक सकता। बहुत कड़े राज्य-नियम बनाने से राज्य-संचालन में वे प्रजा की दृष्टि में अप्रिय हो जाते हैं और उनके सम्बन्ध में अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। विशेष बात यह है कि राज्य-नियमों का संचालन और पालन मनुष्यों द्वारा ही होता है। जितने कड़े राज्य-नियम होते हैं, उतना ही अपराधी उनसे भयभीत होता है। संचालकों को उसके भयभीत होने से लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है। कड़ा दण्ड उस रोग के समान है, जिससे बचने के लिए रोगी को उपचार करने

के लिये अधिक व्यय की आवश्यकता हो। नित्य-प्रति नये नियम बनते हैं, उनके संचालन में नये-नये रूप के अपराध होते हैं, उनसे बचने के लिये नये-नये अपराध सोचे जाते हैं और बड़े राज्य-नियमों की आड़ में उनके संचालन और पालन में अपराधों का जाल-सा फैल जाता है, जिसमें कभी-कभी इच्छा न होते हुए भी कोई पक्षी विवश होकर फँस जाता है। जैसे किसी परिवार वाले ने अपने सम्बन्धी को किसी अपराध से बचाने का उद्योग आरम्भ किया और उस उद्योग के अन्तर्गत नये अपराध करने पड़े। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि राज्य-नियम आवश्यक नहीं है। सृष्टि के आरम्भ से राज्य-व्यवस्था रही है और रहेगी। परन्तु राज्य-नियम बनाने में यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनके बनाने वाले स्वार्थ-सिद्धि पर लक्ष्य न रखकर जनता के हित-साधन को ही महत्त्व दें। इनके संचालक भी स्वार्थ छोड़कर सार्वजनिक हित के लिए ही उनका प्रयोग करें और यह बात भी ध्यान में रखें कि सबसे अच्छी राज्य-व्यवस्था वह है जिसमें राज्य-नियमों की संख्या न्यून से न्यून हो। एक पुरानी कहावत है "That government is the best which governs the least" अर्थात् सबसे अच्छी राज्य-पद्धति वह है, जिसमें प्रजा के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करने की आवश्यकता हो। जिस राज्य की प्रजा अपने आप अपराधों से बचती रहती है, अपराध नहीं करना चाहती और न करती है, वह राज्य सबसे अच्छा है। राज्य का महत्त्व इसमें है कि प्रजा आज्ञा-कारिणी हो और राज्याधिकारी मर्यादा पालन करने वाले हों। नये-नये और कड़े से कड़े कानून पास करने में गौरव नहीं है। अपराध-निरोध का कार्य जहाँ तक राज्य-नियमों से सम्बन्धित है पुलिस, न्याय-विभाग और जेल तक सीमित है। यदि अपराधी की यह भावना रहती है कि पुलिस वालों ने जाँच में, अदालत वालों ने मुकदमा करने में और जेल वालों ने उसे रोक रखने में न्याय और निष्पक्षता से काम नहीं लिया, तो दण्डित हो जाने पर भी अपराधी के हृदय में सुधार की भावना पैदा नहीं हो सकती। वह क्रोधित होता है और क्रोध के

कारण राज्य पद्धति का विरोधी बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिये दण्ड, दण्ड-विधान और दण्ड-विधान का परिपालन उसके सुधार का कारण न बन कर उल्टा बिगाड़ का कारण बनता है। मैंने जेल में नैतिक प्रचार करते हुए ऐसे बन्दी देखे हैं और विशेषकर दफा १०६ जाब्ता फौ० वाले, बहुधा उस दण्ड की शिकायत करते हैं, जो उनको दिया गया है। स्वतन्त्र भारत में दण्ड-सम्बन्धो कानून बनाने, न्याय-व्यवस्था करने, न्याय के पूर्व अपराध की जाँच-पड़ताल करने आदि में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि मौलिक परिवर्तन न हुआ तो उपचार करते हुए भी रोग में वृद्धि ही होती जायगी, जैसी कि हो भी रही है। राज्य-पद्धति का ध्यान सम्प्रति रोक-थाम, पकड़-धकड़, घेरो-बाँधो, मारो-पीटो आदि की ओर अधिक है, नैतिक उत्थान की ओर नहीं है। यदि धारणा यह हो कि अपराधी भी एक रोगी है, तो उसके रोग का निदान और उपचार सावधानी से करना होगा। रोगी से क्रोधित होकर उसे दण्ड देने की व्यवस्था किसी दृष्टि से भी लाभदायक नहीं है। राज्य-नियम नैतिक उत्थान को लक्ष्य में रखकर बनाये जावें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मनुष्य जीवन के चार बड़े उद्देश्य हैं। अर्थ और काम दोनों का आधार धर्म है। राज्य की आवश्यकता मुख्यतः इसलिये है कि मनुष्य अर्थ और काम की सिद्धि के क्षेत्र में धर्म का तो उलंघन नहीं कर रहे। धर्म-प्रचार राज्य का मुख्य ध्येय होना चाहिए। प्रचलित सम्प्रदायवाद के रूप ने धर्म के प्रश्न को राजा और प्रजा के सामने ऐसे संकीर्ण रूप में रखा है कि धर्म साधन नहीं प्रतीत होता। रूढ़िवाद, अन्ध-विश्वास, रीति-रिवाज इत्यादि कारणों के आधार पर धार्मिक भावना कलह, विद्रोह और चरित्र-पतन का कारण समझी जाने लगी है और इसका परिणाम यह हुआ है कि मुख्य उपाय और ओषधि से उदासीनता तथा अरुचि पैदा हो गई है, इधर ध्यान ही नहीं दिया जाता। इसके विपरीत नये-नये उपचारों की खोज की जा रही है। अपराध निरोध के क्षेत्र में सबसे आवश्यक कार्य यह है कि धर्म के सार्वजनिक, शुद्ध, पवित्र और प्राचीन रूप को जनता के सम्मुख रख कर उसको चरित्र का

आधार बनाया जावे और यदि धर्म चरित्र का आधार बन सका तो काम और अर्थ की दुनिया स्वयं व्यवस्थित हो जायगी। सम्भव है उपर्युक्त कथन को बहुत से लोग संशय की दृष्टि से देखें। कोई उसे अनावश्यक समझें और कोई अव्यवहार्य। परन्तु वास्तव में बात यह है कि यदि हमें अपराधी होने के लांछन से बचना है और दूसरों को भी बचाना है, तो हम धर्म के सार्वजनिक एवं मौलिक रूप को समझकर उसे जीवन का आधार बनाएँ। ऐसे सार्वजनिक धर्म के दो स्तम्भ हैं एक आत्मा और दूसरा परमात्मा। यदि आत्मिक दृष्टिकोण से अर्थ और काम के संसार की व्यवस्था की जाय और परमात्मा को उसका संचालक और अधिष्ठाता माना जावे तो वास्तव में वे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि अर्थ और काम की धर्म पूर्वक प्राप्ति का नाम ही जीवन है।

दूसरा उपाय

राज्य नियमों के साथ-साथ लोक-नियम भी अपराध-निरोध के साधन समझे जाते हैं, परन्तु लोक-नियम व्यक्तियों के मनोविज्ञान पर आधारित होते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यदि प्रचलित जन-मत अपराधों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और जीवन-निर्वाह के लिये उन्हें आवश्यक तथा अनिवार्य समझता है, तो ऐसे जनमत के आधार पर बनाये हुए नियम अपराध-निरोध में सहायक नहीं होंगे। व्यावसायिक जगत् में प्रसिद्ध कहावत है कि "घोड़ा दाने-घास से दोस्ती नहीं करता," इसका अभिप्राय यह समझा जाता है कि व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में जीवन-निर्वाह करने या पेट भरने के लिये दाने-घास से अर्थात् भोग्य पदार्थ और भोग्य सामग्री से मित्रता नहीं करता। अवसर मिलने पर अधिक से अधिक दाना-घास ले लेता और खाकर तृप्त होता है। इस दाने-घास की प्राप्ति में कितना ही अनुचित व्यवहार क्यों न करना पड़े, परन्तु वह उसे अनुचित नहीं समझता। उपर्युक्त कहावत भ्रमोत्पादक और हानिकारक है। यदि वकील, डॉक्टर, दुकानदार आदि अपने-अपने क्षेत्र में ऊपर

लिखी कहावत को चरितार्थ करने के लिये बेईमानी और अनधिकार चेष्टा करें तो कोई भी निरपराध नहीं रह सकता। कोई व्यक्ति जिस क्षेत्र में कार्य करता है, उसमें तो बेईमानी और अनुचित व्यवहार किया जा सकता है, किन्तु दूसरे क्षेत्र में उसे ऐसा करने का अवसर नहीं मिलता। वकील को अस्पताल में कौन पूछेगा और डाक्टर न्यायालय में क्या करेगा। यदि इन्जीनियर सड़क का ठेका देने में नाप-तोल की बेईमानी कर सकता है, तो अस्पताल में उससे नुसखे कौन लिखवायेगा। इसी प्रकार एक और किंवदन्ती प्रचलित है—All is fair in love and war अर्थात् मित्रता और शत्रुता में कुछ अनुचित नहीं है, जो कुछ किया जाय वह ठीक है। मित्र को लाभ पहुँचाना और शत्रु का नाश करना ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति के लिये उचित-अनुचित सभी कुछ किया जा सकता है। यह किंवदन्ती भी समाज का नाश करने में बहुत बड़ा कारण है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो व्यावहारिक संसार के दो ही रूप हो सके हैं, मित्रता या शत्रुता। कुछ चलते-फिरते व्यवहार भी हैं जो इन दोनों श्रेणियों में नहीं आत। उन चलते-फिरते व्यवहारों में अपराव करने या न करने का अवसर भी बहुत कम आता है। मित्रता और शत्रुता संसार के दो ही व्यवहार हैं। इस किंवदन्ती ने व्यवहार की दुनिया के विचार दूषित कर दिए हैं। विचार से आचार भ्रष्ट हो गया और आचार-विचार के दूषित हो जाने से व्यवहार भी दूषित होगया। इस किंवदन्ती का भयङ्कर परिणाम ही अपराधों की बढ़ती हुई बाढ़ है। न मालूम कब और कहाँ से इसका आरम्भ हुआ, परन्तु स्वतन्त्र भारत में लोक-नियमों और समाज-नियमों पर विचार करते हुए उपर्युक्त दोनों किंवदन्तियों को जड़ मूल से निकाल देना है। यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय तो जब से भारतवर्ष के घोड़ों ने दाने-घास से दोस्ती छोड़ दी है तभी से दाने-घास ने घोड़ों से दोस्ती त्याग दी है। जिस घोड़े को देखो वही अस्तबल में खड़ा पैर पीट रहा है और सिर धुन रहा है। न पेट को

टुकड़ा और न तन को चिथड़ा। बड़ा करुण दृश्य सामने है। एक समय था जब भारतवर्ष धन-धान्य से परिपूर्ण था; परन्तु अब तो वह दाने-दाने को तरसता है। संसार के सामने भीख के लिये हाथ पसार रहा है। कमाई, भीख, ऋण किसी से भी अन्न-वस्त्र की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। जब ये तीनों उपाय निष्फल हैं तो दो ही परिणाम हो सकते हैं, या तो बिना खाये और बिना पहने मर जायँ या चोरी करके जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करें। मरने की अपेक्षा चोरी करना सरल है, अतः बाह्य दृष्टि से इसी अपराध की ओर प्रायः लोगों का ध्यान जा रहा है।

एक और दृष्टिकोण

अपराध-निरोध के सम्बन्ध में तीन मुख्य कारण और समझे जाते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध अपराधों की वृद्धि और उनके निरोध से है। उन्हें हम अभाव, अज्ञान और अन्याय कह सकते हैं। बहुतों का मत है कि अभाव अर्थात खाद्य पदार्थ, वस्त्र, निवास आदि की कमी ऐसे कारण हैं, जिनसे अपराधों का सीधा सम्बन्ध है। प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि भूखा क्या नहीं करता। किसी सीमा तक यह बात ठीक भी है; परन्तु यही मुख्य कारण नहीं है।

अभाव

भाव और अभाव का प्रश्न सदैव सापेक्ष रहा है। यदि मनुष्य और समाज की आवश्यकताएँ तथा इच्छायें मर्यादित न हों तो किसी वस्तु का कितना ही भाव क्यों न हो, भाव और अभाव का समाधान नहीं हो सकता। भाव और अभाव की समस्या पर विचार करते समय मनुष्यों के स्वभाव, विचार और उनकी भावनाओं पर भी ध्यान देना होगा। आजकल जगत में संग्रह करने की भावना अधिक है। अनाज सारे संसार से मँगाया जा रहा है, परन्तु फिर भी पूरा नहीं पड़ता। यदि जनता निर्धन, भूखी और असन्तुष्ट रहेगी तो उसकी प्रवृत्ति उन कार्यों की ओर जा सकती है, जो अनुचित और मर्यादा के विरुद्ध हैं। राज्य और समाज का यह

कर्त्तव्य है कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे प्रत्येक व्यक्ति को पूरे पुरुषार्थ का अवसर मिले और इस पुरुषार्थ द्वारा वह अपने जीवन की आवश्यकताएँ पूरी कर सके। फिर भी इस व्यवस्था को सरल बनाने की आवश्यकता है। जनता की इच्छाएँ मर्यादित हों। जहाँ उदरपूर्ति का प्रश्न है वहाँ तृप्ति और नीयत का भी प्रश्न है। यदि मनुष्य भर पेट खाकर भी नहीं अघाता और उसकी नीयत नहीं भरती तो वहाँ की समस्या सबसे अधिक कठिन है। मनुष्य को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वह पुरुषार्थ के समय पुरुषार्थ करे और पुरुषार्थ से जो वस्तु प्राप्त हो उससे अपनी आवश्यकता पूरी करने के पश्चात् दूसरों को प्रयोग में लाने दे। तप और अपरिग्रह दोनों अति आवश्यक हैं। आज कल केवल निर्धनता का प्रश्न नहीं है, प्रत्युत लोभ, लालच, कंजूसी, बदनीयती, बेईमानी, चोर-बाजारी, आपाधापी आदि की ऐसी अनुचित भावनायें भी हैं, जिन्होंने भाव और अभाव के प्रश्न को भयङ्कर रूप में उपस्थित कर दिया है। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में करोड़ों ऐसे आदमी हैं जो नाम के साधु, संन्यासी बने हुए सम्प्रदायवाद की आड़ में बिना पुरुषार्थ के मौज उड़ा रहे हैं और अधिक खाते हैं; परन्तु पुरुषार्थ कुछ नहीं करते। लोगों में परोपकार की भावना अनुचित रूप से प्रचलित है, वह योग्य अयोग्य और पात्र-कुपात्र को न देखते हुए केवल अन्ध-विश्वास और रूढ़िवाद के आधार पर ऐसे समुदाय को दान देना और खाना खिलाना अपना विशेष कर्त्तव्य समझते हैं और ऐसा करना मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं। इस प्रवृत्ति का अपराधों से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधु-संन्यासियों के वेश में बहुत से अपराधी विचरते हैं। ये लोग बालकों को अपने माया-जाल में फँसा कर अपनी संख्या बढ़ाते रहते हैं। इनके स्थान अपराधों के अड्डे हैं। नशा, दुराचार, ठगई आदि अनेक प्रकार के अपराध इनके क्षेत्र में पनपते हैं। हम साधु-संन्यासियों का अपमान नहीं करना चाहते। हमारे हृदय में उनके लिये मान-प्रतिष्ठा है। फिर भी व्यक्ति और समाज के हित के लिए जब हम

अपराध-निरोध की समस्या पर विचार कर रहे हैं, तो इस कटु सत्य को प्रकट करने में हमें संकोच भी न होना चाहिये। इस प्रश्न पर पाठकों को भी गम्भीरता से विचार करना होगा। केवल कड़ी आलोचना समझ कर रोष में आने से लाभ नहीं हो सकता। बालकों में जो बहुत से अपराध दृष्टिगोचर होते हैं, इस प्रथा से उनका सीधा सम्बन्ध है।

अभाव के प्रश्न पर विचार करते हुए हमें श्रम-विभाजन की प्राचीन विधि की उपयोगिता पर भी दृष्टिपात करना है। यदि आर्थिक जगत् में आबाल वृद्ध नरनारी सब हाथ पैर पीटेंगे और परस्पर संघर्ष करेंगे तो समस्या और भी जटिल हो जायगी। जिसको जिस समय जो काम करना है, उसे उस समय वह करना चाहिये। यदि सब लोग धन कमाने के लिए दौड़ें तो उन सबको पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकती। पर्याप्त मात्रा में धन न मिलने के कारण असन्तुष्ट होना या अभाव की शिकायत करना स्वाभाविक है। यदि केवल वैश्य वर्ण और गृहस्थाश्रम से ही इसका सम्बन्ध हो और देवियाँ चरित्र-निर्माण और गृह-निर्माण की ओर ही ध्यान दें तो आर्थिक जगत् की व्यवस्था बड़ी सरलता से सुधर सकती है। आर्थिक जगत् में प्रवेश करने से पूर्व हर व्यक्ति को तैयार होना पड़ेगा, उसी प्रकार जिस प्रकार युद्ध में जाने से पूर्व सैनिक को अभ्यास करना पड़ता है। अर्थ-जगत् में काम, क्रोध और लोभ का भयङ्कर आक्रमण नित्य-प्रति होता है। यह एक बड़ा युद्ध है, इस युद्ध में विजय पाने के लिये प्रवेश करने वाले को सदाचार का अभ्यासी बनना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य आश्रम और शिक्षा-दीक्षा इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हैं। आजकल अशिक्षित और अनभ्यस्त सैनिक इस अर्थ-संग्राम में लड़ रहे हैं, जिससे नित्य-प्रति पराजय दृष्टिगोचर होती है। प्रलोभन का क्षुद्र अवसर मिलने पर भी व्यापारी-जगत् का सैनिक अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है और अकर्त्तव्य करने लगता है।

भाव और अभाव के प्रश्न पर विचार करते समय हमें यह बात

भी लक्ष्य में रखनी है कि जो वस्तुएँ वास्तविक रूप से लाभदायक और उपयोगी हैं, उनको मुख्य रूप से प्रस्तुत करना चाहिये और जो हानि-कारक हैं उनको एकत्र न करके दूर कर देना चाहिये।

मद्य-पान और माँस-भक्षण ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे इस भाव और अभाव के प्रश्न के समाधान में बड़ी अड़चनें उत्पन्न होती हैं। पवित्र, सात्विक और स्वास्थ्य-वर्द्धक भोजन होना चाहिये। भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान न रख कर खाद्य पदार्थ एकत्र करना और उन्हें प्रयोग में लाना अनुचित है, हानिकारक और अपराधों को बढ़ाने वाला है। नशा इत्यादि करना साधारण-सी बातें हैं, परन्तु ये साधारण-सी बातें भी प्रचलित हो जाने पर एक भयंकर परिणाम उत्पन्न कर रही हैं। संप्रति देश की शासन-व्यवस्था की बागडोर महात्मा गांधी के आदेशानुसार उनके अनुयायियों के हाथ में है, फिर न जाने क्यों नशाबन्दी के कानून को लागू करने में संकोच किया जा रहा है और गोवध-निषेध जैसे आवश्यक कार्य में देर लग रही है। अनुचित खान-पान से वृत्ति बिगड़ती है, संस्कार दूषित होते हैं और अपराधों की ओर रुचि बढ़ती है।

भाव और अभाव के प्रश्न पर अन्य प्रकार से भी विचार किया जा सकता है, परन्तु केवल एक प्रकार से और विचार करके हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

मनोरंजन की आड़ में इस समय जो कुछ हो रहा है, वह भी हमारे समाज की व्यवस्था बिगाड़ने में बड़ा प्रभाव रखता है। कलाओं की उन्नति के बहाने सिनेमा इत्यादि में धन, समय और शक्ति का जो दुरुपयोग हो रहा है, उसका आर्थिक जगत् में बहुत बड़ा प्रभाव है। चरित्र से उसका सीधा सम्बन्ध है और चरित्र का सम्बन्ध व्यवहार तथा व्यवसाय से है। यह सब एक लड़ी है, सब एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। बुराई बढ़ती जाती है, चरित्र-भ्रष्ट हो रहे हैं, व्याकुलता वृद्धि पर है और व्याकुलता दूर करने के लिये मनोरंजक सामग्री उपस्थित की जाती है। मनोरंजन को आड़ में चरित्र और भ्रष्ट होते हैं, व्याकुलता में वृद्धि होती है और इस प्रकार यह विष अधिकाधिक फैलता जाता

है। मन नहीं लगता, वक्त नहीं कटता, इसलिये सिनेमा जाते हैं। सिनेमा जाकर मन भी लग जाता है और वक्त भी कट जाता है। परन्तु वक्त कटने के साथ जीवन नष्ट हो जाता है, और मन ऐसा लग जाता है कि उसमें दुराचार और अपराधों के संस्कार जम जाते हैं। फिर सँभालना और सुधारना कठिन हो जाता है। सुधारने का प्रश्न तो अलग रहा, अभी मनोरंजन के प्रश्न पर ही उपर्युक्त दृष्टि-कोण से विचार करना प्रारम्भ नहीं हुआ। बहुत से नवयुवक और विचारक तो उपरिलिखित बात से सहमत न होकर उसे हास्यास्पद समझेंगे। भले ही समझें, परन्तु यदि वे गम्भीरता-पूर्वक निष्पक्ष भाव से विचार करेंगे तो अवश्य ही हमसे सहमत होंगे।

अन्याय और अपराध

न्याय-व्यवस्था और अपराध-निरोध का परस्पर सीधा सम्बन्ध है। न्याय-व्यवस्था संसार में अपराधों के निरोध के लिये ही है। राज्य की आवश्यकता इसलिये मानी जाती है, कि कोई व्यक्ति या समुदाय दूसरों पर अन्याय न कर सके। जब कहीं अन्याय होता है तो उसके निराकरण के लिये न्यायाधीश और न्यायालय नियत किये जाते हैं। जब कभी किसी व्यक्ति पर अन्याय होता है, और उसको उस अन्याय का बदला लेने का अवसर नहीं मिलता, या अन्याय करने वाले को उचित रूप से दण्डित नहीं किया जाता तो ऐसा व्यक्ति प्रतिकारस्वरूप अपराधी बन जाता है; और तब वह उस अन्याय का बदला लेने के स्थान में अनेक अन्य प्रकार के अन्याय करने पर उतारू हो जाता है। कभी-कभी माता-पिता किसी बालक के साथ न्याय नहीं करते या ऐसा निष्पक्ष व्यवहार नहीं करते जो उनको करना चाहिये, तो इसका परिणाम भी बड़ा भयङ्कर होता है। सौतेली मातायें और दूसरा विवाह कर लेने के पश्चात् बहुधा पिता, और माता-पिता के मरने के बाद बालक-बालिकाओं के अन्य सम्बन्धी ऐसी निष्ठुर और पक्षपात-पूर्ण नीति का अवलम्बन करते हैं, जिससे उस बालक के मन में क्रोध और द्वेष की अग्नि धधकने लगती है। तब वह साधारण-सा

बालक बड़ा अपराधी तथा अत्याचारी बन जाता है। ऐसी न्याय-व्यवस्था का सम्बन्ध परिवार से ही नहीं अन्य सब क्षेत्रों के साथ भी है। हमने यह अनुभव किया है कि यदि किसी व्यक्ति को बिना अपराध किये सजा हो जाती है और ऐसा व्यक्ति जेल जाकर यह निश्चय करता है कि यदि बिना अपराध किये दण्ड मिल जाता है, तो फिर अपराध क्यों न किया जाय, जिससे बदला लेने का अवसर तो मिले और दण्ड मिलने पर यह सान्त्वना तो हो कि कुछ कर तो लिया। दण्ड-विधान एक विस्तृत क्षेत्र से सम्बन्धित है। पुलिस, कचहरी और जेल-विभाग सब इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। यदि अपराध-निरोध के कार्य को सफल बनाना है, तो पुलिस, कचहरी तथा जेल वालों को बहुत सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता है। न्याय-व्यवस्था का प्रायः आधार होता है पुलिस की जाँच। पुलिस की जाँच में यदि लापरवाही, बेईमानी, जालसाजी और पक्षपात से काम लिया गया तो आगे की सारी न्याय-व्यवस्था दूषित हो जायगी। न्यायालयों में साक्षी, वकील, न्यायाधीश और न्यायाधीश से सम्बन्धित कर्मचारियों को न्याय करते समय और न्याय में सहायता देते समय ईमानदारी से काम लेना होगा। न्यायालय में जो शपथ लेने की प्रथा है, वह अति प्राचीन और गौरवपूर्ण है। शपथ में ईश्वर को हाजिर नाजिर अर्थात् व्यापक और द्रष्टा मानने की प्रतिज्ञा कराई जाती है। ईश्वर के सर्व-व्यापक होने के कारण कोई बात उससे छिप नहीं सकती। छिपने और छिपाने की भावना का अपराधों और पापों से घनिष्ठ सन्बन्ध है। यदि इस भावना का निराकरण हो जाय तो अपराधों को रोकने में बड़ी सहायता मिल सकती है। अपराध करने वाला व्यक्ति अपराध करने के लिये दो कारणों से तत्पर हो जाता है या तो उनकी धारणा यह होती है, कि मेरा अपराध छिपा रहेगा, या मैं अपनी बुद्धि, धन या अन्य प्रकार से उसके परिणाम से बच जाऊँगा। यदि न्यायाधीश के अटल न्याय और पूर्ण ज्ञान पर भरोसा हो तो अपराधी किसी दशा में भी अपराध करने का साहस और विचार नहीं करेगा। पूर्ण और

सफल न्याय-व्यवस्था के लिये साक्षीगणों और जांच करने वालों को सत्यवादी, सत्य-प्रेमी और निष्पक्ष होना पड़ेगा। इसी प्रकार अर्थ और काम के जगत् में प्रवेश करने वालों को अर्थ-प्राप्ति और काम-प्राप्ति करते समय न्याय का पूरा ध्यान रखना चाहिये। यदि वे अन्याय करेंगे तो प्रतिक्रिया में उससे अधिक अन्याय होगा। इस प्रकार अन्यायियों का विस्तृत जाल सा फैल जायेगा; जैसा कि सम्प्रति फैल भी रहा है। न्याय-व्यवस्था का सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण और सदाचार से है। यह केवल स्थान या अवस्था विशेष से सम्बन्धित प्रश्न नहीं है। अपराध-निरोध के लिये ग्राम-पंचायतें बनाई गईं हैं; परन्तु इन पंचायतों में भी पंच और सरपंच निष्पक्ष होकर न्याय नहीं करते, बल्कि वे बदला लेने और अपने से द्वेष करने वाले को अपमानित करने के अभिप्राय से न्याय करते हैं। इस प्रकार लाभ के स्थान पर हानि हो रही है, शत्रुता और द्वेष बढ़ रहे हैं। न्याय के प्रत्येक क्षेत्र में न्यायकर्ता का कर्तव्य है कि वह अपने आपको सर्वव्यापक न्यायाधीश का प्रतिनिधि माने और यदि आचार और व्यवहार के समय ऐसे प्रतिनिधि होने की भावना चरितार्थ और प्रचलित हो जाय तो अन्याय का अन्त होने और न्याय-साम्राज्य की स्थापना में देर न लगे।

अज्ञान

अपराध और अज्ञान का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधारणतया यह विचार है कि यदि ज्ञान और शिक्षा का विस्तार होगा तो जनता अपने कर्त्तव्य को समझ कर कर्त्तव्य-पालन कर सकेगी। जनता के अज्ञ रहने से यह धारणा रहती है कि जब वह अपना कर्त्तव्य जानती ही नहीं और समझती ही नहीं, तो यह प्रश्न ही नहीं होता कि वह उसका पालन कर सकेगी या नहीं। एक दृष्टि से ऊपर लिखी बात ठीक है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि केवल शिक्षित होने से मनुष्य अपराधों से बच सकेगा। सम्प्रति संसार में ऐसे भी देश हैं, जहाँ सौ में से सौ या निन्यानवे पढ़े-लिखे और शिक्षित व्यक्ति हैं; परन्तु उन देशों में इन शिक्षित समझे जाने वाले व्यक्तियों में नैतिकता की बहुत ही

कमी है। वह स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने कार्यों की सिद्धि में तत्पर हो जाते हैं और देश या दूसरों की हानि का ध्यान नहीं करते। ये लोग अपनी शिक्षा की सहायता से स्वार्थ सिद्धि के ऐसे उपाय निकाल लेते हैं कि जिनको साधारण अशिक्षित आदमी सोच भी नहीं सकता। आज-कल कला और विज्ञान की सहायता से ज्ञान-विस्तार के अनेक साधन उपलब्ध हैं। छापेखानों में पुस्तकें छपती और समाचारपत्र प्रकाशित होते हैं। पुस्तकें भली-बुरी सब प्रकार की होती हैं। कहानियाँ और उपन्यास भी इन पुस्तकों में सम्मिलित हैं। सम्प्रति जनता की रुचि ऐसी कहानियों के पढ़ने में लगती है, जिनमें उनका मन लग सके अर्थात् जिनमें उनके मन की सी बातें हों। काम-वासना उत्पन्न करने वाली शृङ्गार सम्बन्धिनी कहानियाँ बड़ी रोचक समझी जाती हैं और ऐसी कहानियों की पुस्तकें बहुत बिकती हैं। यही हाल उपन्यासों का है। समाचारपत्र भी आज-कल वे ही अधिक चलते हैं, जिनमें जनता की रुचि की बातें छपती हों; भले ही वह सच्ची हों चाहे झूठी, चरित्र को उठाने वाली हों, चाहे गिराने वाली। सिनेमा भी ज्ञान-विस्तार और मनोरंजन के बड़े साधन समझे जाते हैं। जो कुछ हम पढ़ते, सुनते और देखते हैं, उन सबका हमारे मन और मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के कारण ही हमारे आचार-विचार भी बनते हैं। यदि सिनेमाओं में कामोत्पादक दृश्य और गाने होंगे तो ऐसे सिनेमाओं में जाने से चरित्र जरूर दूषित होगा। इसलिये अपराध निरोध पर विचार करते समय केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि ज्ञान में वृद्धि हो। अधिक आवश्यक प्रश्न यह है कि ज्ञान किस-किस का किस आधार पर और किस प्रयोजन के लिये उपलब्ध करना है। केवल बिना विचारे ज्ञान-वृद्धि की आड़ में ऐसे उपाय करते रहना, जिनसे ज्ञान तो बढ़े, परन्तु ऐसा ज्ञान जो अज्ञान से भी अधिक हानिकारक है, उचित नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने वाले को अपने और परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान होना चाहिये। इन दोनों के साथ-साथ यथा सम्भव संसार का ज्ञान भी सम्यक ज्ञान

होना चाहिये। अभिप्राय यह है कि केवल बाह्य जगत् का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, इसके साथ-साथ मनुष्य को यह जानना भी आवश्यक है कि मैं क्या हूँ, मुझे क्या करना है और मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है।

ज्ञान के साधन प्रकाश के दीपक समझे जाते हैं। यदि ये साधन दूषित होंगे तो यह कहावत चरितार्थ होगी कि "घर को आग लग गई घर के चिराग से" अर्थात् हमारा दूषित ज्ञान ही हमें बर्बाद कर देगा। शिक्षा-सम्बन्धी समस्या के साथ-साथ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि लड़के और लड़कियों के साथ-साथ पढ़ने की पद्धति उचित है या अनुचित। पश्चिमी जगत् की पद्धति इस सम्ब्रन्ध में कुछ भी क्यों न हो, वहाँ सहशिक्षण का कितना ही जोर सही ; परन्तु भारत की प्राचीन मर्यादा सदैव सह-शिक्षा की विरोधी रही है। लड़के और लड़कियों के साथ-साथ पढ़ने से काम-जगत् की व्यवस्था दूषित हो जाना स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने में कठिनाई होती है। निस्सन्देह स्त्रियों को सामान्य ही नहीं विशेष अधिकार प्राप्त हैं। स्त्रियों और पुरुषों के कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं; स्त्रियों को अपनी देख-रेख में सदाचारी बच्चे तैयार करने हैं, जो बड़े होकर विस्तृत क्षेत्र में भी ईमानदारी और सदाचार का पालन कर सकें। हम सबको पश्चिमी सभ्यता की बाढ़ में नहीं बहना चाहिये। सचेत और सावधान होकर बालक-बालिकाओं के पृथक-पृथक विद्यालय स्थापित करने चाहिएँ। उनकी व्यवस्था पृथक पृथक हो।

विद्यालयों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। नित्य-प्रति का कार्य ईश्वर-प्रार्थना से आरम्भ हो और प्रतिदिन कुछ समय तक धार्मिक शिक्षा दी जाय। यह धार्मिक शिक्षा परीक्षा का अंग होना चाहिए अर्थात विद्यार्थियों को विद्यालय की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए नैतिकता की शिक्षा में भी उत्तीर्ण होने योग्य अंक प्राप्त करने चाहिएँ।

कर्तव्य और अधिकार

अपराध-निरोध की समस्या पर विचार करने के लिए कर्तव्य और अधिकार के समन्वय पर भी विचार करना आवश्यक है। केवल अधिकार प्राप्ति के लिए आन्दोलन और दौड़-धूप करना जीवन की सफलता के लिये पर्याप्त नहीं है। अधिकार-वृद्धि को धुन कभी-कभी विवेक को नष्ट कर देती है। अधिकारों के साथ प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य भी पूर्ण करने होंगे। राम-राज्य की विशेषता कर्तव्य-पालन में ही थी। राम-राज्य में यह अवस्था थी कि यदि किसी को कोई वस्तु प्राप्त हो भी जाये तो वह उसको लेने से पूर्व यह सोचता था कि उसको वह लेनी चाहिये या नहीं। उसे उसको लेने का अधिकार भी है या नहीं। भगवान् राम के वनवास के पश्चात् भरतजी को चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया, परन्तु भरत ने अपना अधिकार न होने के कारण राज्य-सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया और केवल राज्य का प्रबन्ध किया; वह भी श्री रामचन्द्र जी के प्रतिनिधि के रूप में। आजकल उलटी दुनिया है। वस्तु या अधिकार मिल जाने पर उन्हें कौन छोड़ता है ? बल्कि न मिलें तो उचित अनुचित चेष्टा करके किसी न किसी प्रकार वे प्राप्त किये जाते हैं।

जन-सेवक

राज्य-कर्मचारियों और अधिकारियों को जन-सेवक (Public servant) कहा जाता है और एक प्रकार से वे हैं भी। परन्तु यदि राज्य-कर्मचारी और अधिकारी सच्चे अर्थों में जन-सेवक हो जावें तो उनके और जनता के सुधार में कुछ कमी नहीं रह सकती। सम्प्रति प्रत्येक जन-सेवक अपने को जनता का संचालक समझता है। जन-सेवक को जनता की सेवा के लिये अवसर मिलता है, ऐसे अवसर मिलने का नाम ही अधिकार है। किस प्रकार सेवा की जा सके यह अधिकार का अंग है। यदि जनता का सुधार करना है तो जन-सेवकों को सच्ची सेवा का भाव धारण करना होगा और सच्चे अर्थों में जन-सेवक बनना पड़ेगा। मेरी दृष्टि में यह भी आवश्यक है कि

प्रत्येक कार्यालय और विभाग का काम नित्य प्रति ईश्वर-उपासना से प्रारम्भ होना चाहिये। जन-सेवकों का उदासीन हृदय होकर आना और थके-माँदे घर जाना बड़ा दूषित वातावरण पैदा करता है। वे इस सेवा के उपलक्ष्य में कभी-कभी अनुचित लाभ उठाने में भी संकोच नहीं करते। यदि कार्य-प्रणाली में सेवा-भाव मुख्य और अधिकार-प्राप्ति का भाव गौण हो जाय तो थोड़े समय में ही देश और राष्ट्र की परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन हो जायगा और राष्ट्र रूपी देह के काया-कल्प के लिये एक अचूक औषधि प्राप्त हो जायेगी। जन-सेवक जनता को अपना अंग समझें तो वे दुर्व्यवहार नहीं करेंगे। प्रत्येक कर्मचारी को यह भावना रखनी चाहिये कि राज्य की ओर से उसे वेतन या उपवेतन के रूप में जो पुरस्कार मिलता है, वह इस लिये मिलता है कि वह अपने निर्वाह के साथ-साथ जनता की सेवा भी उचित रीति से करता रहे। रक्षा करना राज्य का काम है। क्षात्र धर्म इसी को कहते हैं। राज्य सूर्य के समान है, राज्य कर्मचारी उसकी किरणें हैं। ये सूर्य और किरणें प्रकाश के विस्तार, अंधकार के निराकरण और भोग-सामग्री की वृद्धि के लिये हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति से पृथ्वी के जल को खींचकर ऊपर ले जाता और फिर समय आने पर वर्षा के रूप में वापस कर भेज देता है, यही व्यवस्था राज्य की और राज्य-कर्मचारियों की होनी चाहिये। वे कर, टैक्स, महसूल, चुंगी, लगान, अबवाब चाहे जिस नाम से जनता से धन एकत्रि करें; परन्तु अन्ततः उस प्राप्त किये हुए धन को जनता के हित में ही व्यय करें। यदि जनता की यह धारणा होगी कि उससे लिया हुआ धन उसके देश और उसके हित के लिये ही व्यय होगा तो उसको कर चुकाने और टैक्स देने में प्रसन्नता होगी। आज आय और कर की दुनिया में कोलाहल मचा हुआ है। बड़े-बड़े धनवान् जिन्होंने उचित और अनुचित उपायों से धन एकत्र किया है, नियत कर देने में संकोच करते हैं। कर लगाने और वसूल करने में भी अनेक अपराध हो रहे और होते हैं। और इस प्रकार एक दूषित वातावरण पैदा हो गया है।

प्रजातन्त्र और अपराध-निरोध

प्रजातन्त्र में एक विशेषता है। इस शासन-पद्धति में राजा और प्रजा का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार का हो जाता है। प्रजा अपने को ही राजा मानती है और प्रजा द्वारा निर्वाचित अधिकारी ही विधान बनाते और वही इस व्यवस्था को पालन करते हैं। इसका प्रायः यह परिणाम होता है कि राज्य-सत्ता का वह अंकुश और भय जो प्रजा को मर्यादित रखने के लिये अति आवश्यक है, निराधार-सा हो जाता है। लोग समझने लगते हैं कि जब अधिकारी हमारे ही बनाये हुए हैं, मंत्रियों को हमने ही चुना है, हमारी उन तक पहुँच है, तो क्या वे हमारा जरा-सा भी काम नहीं कर सकते। क्या वे हमारी जरा-सी भी त्रुटि को उपेक्षापूर्वक क्षमा नहीं कर सकते। हम उनसे जो चाहें सो काम करा सकते हैं। ऊपर लिखी भावनायें हैं तो साधारण परन्तु उनमें विष भरा हुआ है। इन अनुचित धारणाओं ने सारी परिस्थिति को दूषित कर दिया है। प्रजातन्त्र का वास्तविक अर्थ है दूसरे की दासता से मुक्त होना। परन्तु वस्तुतः उसका सच्चा स्वरूप यह है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य के बनने-बिगड़ने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में राज्य-व्यवस्था है। उसकी आत्मा राजा के समान है, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उस राज्य के कर्मचारी हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार राज्य-संचालक हैं। यदि आत्मा का राज्य अपनी उपर्युक्त प्रजा पर होगा तो आन्तरिक राज्य-व्यवस्था ठीक मानी जायगी, और ऐसा व्यक्ति वस्तुतः राष्ट्र-निर्माण में सहायक हो सकेगा। प्रजातन्त्र की आड़ में निर्भीक होना स्वाभाविक है, परन्तु यह निर्भीकता अपराध करने के लिये नहीं होनी चाहिये। अपराधों से वंचित रह कर सदाचार से रहने में ही सच्ची निर्भीकता है।

प्रजातन्त्र के अंग

स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और भ्रातृभाव प्रजातन्त्र के आधार माने जाते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ मनमानी कर सकने का नहीं है। जो

करना चाहिये उसे कर सकने का नाम स्वतन्त्रता है। समानता का अर्थ समान अवसर और न्याय प्राप्त करना है। स्वतन्त्रता और न्याय के नाम पर नेताओं की जय का शोर बहुत है, परन्तु इस शोर ने ऐसा वातावरण पैदा कर दिया है कि उचित-अनुचित का विचार ही नहीं रहा। जो दूषण दासता के समय नहीं थे, उससे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हैं। उनका निराकरण होना अनिवार्य है। यदि प्रजातन्त्र-स्थापना का अर्थ अराजकता, उच्छृङ्खलता और मनमानी है तो इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। प्रजातन्त्र के साथ-साथ उत्तर-दायित्व की भावना भी आनी चाहिये।

निर्वाचन-पद्धति भी प्रजातन्त्र का आवश्यक अंग है; परन्तु मत व अधिकार, मत प्राप्ति की विधि और मत का प्रयोग, अपराधों से बचने के उपाय भी हो सकते हैं और उनकी वृद्धि के साधन भी। निर्वाचन-पद्धति में मतदाता को शुद्ध बुद्धि, पवित्र हृदय और पूरे पुरुषार्थ का परिचय देना होगा। मत का प्रदर्शन Hand अर्थात् हाथ द्वारा होता है, चाहे हाथ उठाकर हो अथवा हाथ से लिखकर। हाथ के साथ-साथ Heart हृदय और Head अर्थात् मस्तिष्क का प्रयोग भी होना चाहिये। मतदाताओं को समझ-बूझ कर देश के हित को लक्ष्य में रख कर निस्वार्थ भाव से मत देना चाहिये। अपने मस्तिष्क और अन्तः-करण की पुकार की उपेक्षा कर किसी प्रवाह में पड़ कर मत देना बड़ा अनिष्टकारक है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर हो सकता है। निर्वाचन सुधार के लिये होता है, परन्तु यदि विधि और प्रयोग दूषित हैं, तो वह बिगाड़ने का आधार हो सकता है। केवल निर्वाचनों के हो जाने पर सुधार की आशा किये बैठे रहना पर्याप्त नहीं है। सुधार के लिये सच्चे दिल से कर्त्तव्य-पालन की आवश्यकता है।

अपराध-क्षेत्र

ऊपर भिन्न-भिन्न रूपों से अपराध-समस्या पर विचार किया गया है। अपराध का सम्बन्ध किसी स्थान या समुदाय विशेष से नहीं है। अपराध का नाम सुनते ही चम्बल और यमुना के खादरों में छिपे रहने

वाले अपराधियों का ख्याल नहीं करना चाहिये। अपराध तलवार और बन्दूक से भी होते हैं और कलम तथा वाणी से भी। अपराध का नाम सुनते ही बाह्य दृष्टि ही न डालनी चाहिये, आन्तरिक रूप से दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। अपराधों के प्रचलित और भयंकर रूप को लक्ष्य में रखने के लिये उनके निम्नलिखित क्षेत्र उल्लेखनीय हैं।

१—सरकारी दफ्तरों, न्यायालयों तथा राजकीय विभागों में घूस-खोरी का बाजार गर्म है।

२—व्यापार में चोर-बाजारी और असत्य व्यवहार जोरों पर है।

३—टैक्सों और चुङ्गी आदि से बचने के लिये आत्मा का हनन करने वाले अनेक साधन बर्ते जाते हैं।

४—प्रजा और राज कर्मचारी दोनों ही कानून की बे-धड़क अवहेलना करते हैं। बाड़ खेत को खा रही है। प्रायः देखा जाता है कि कानून के रक्षक न्यायाधीश और पुलिस ही कानून तोड़ कर स्वार्थ-सिद्धि करने में लगे हुए हैं।

५—खान पान की चीजों में मिलावट का कोई ठिकाना नहीं है। घी, दूध प्रायः लुप्त हो चुके हैं। कहीं कला के नाम पर अर्द्ध-नग्न नाच हो रहे हैं, कहीं आमोद-प्रमोद के बहाने गन्दे दृश्य दिखाये जा रहे हैं और कहीं मनोरंजन के लिये गन्दे गीत गाये जा रहे हैं। सिनेमा और रेडियो तो अश्लीलता के अड्डे बन रहे हैं।

६—बाजारों और गली-कूँचों में नारियों की लज्जाहीन अवस्था के चित्र लटक रहे हैं। व्यभिचार किस तीव्र गति से बढ़ रहा है, इसके आँकड़े पढ़ने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

७—मद्य, मांस, तम्बाकू आदि मादक द्रव्यों का प्रयोग बे रोक-टोक बढ़ता चला जा रहा है। क्लब और होटल तो वाममार्ग के अखाड़े बनते जा रहे हैं। वहाँ खुल्लमखुल्ला जुआ खेला जाता है और शराब के दौर चलते हैं। कभी-कभी और कहीं-कहीं इनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती हैं।

८—स्कूलों और कालिजों में निरंकुशता, उद्दण्डता तथा उच्छृङ्खलता का राज्य है। गुरुओं की शिष्यों के हाथों गत बनती है और किसी-

किसी गुरु को तो जान से भी हाथ धोने पड़ते हैं। ब्रह्मचर्य का नाश, मादक द्रव्यों का सेवन, शिष्टाचार का अभाव और विलासिता का जीवन आजकल के विद्यार्थियों के लक्षण हैं। इस पर सह शिक्षण तो गजब ही ढाता है।

९—ग्रामों के सीधे-सादे लोग भी शहरों के सम्पर्क में आकर अपनी सरलता खोकर भ्रष्टाचार का शिकार बन रहे हैं।

१०—समाचार-पत्र ज्ञान के दीपक हैं, परन्तु इनमें जो समाचार और विज्ञापन छपते हैं, उनका भी चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

अपराध और नशा

नशे से अपराध में वृद्धि होती है। नशे के कारण विवेक जाता रहता है। तन रोगी, मन मलिन और धन का नाश हो जाता है। नशे से कलह बढ़ती है और नशा करने के पश्चात् काम-वासनायें प्रबल रूप से उत्पन्न होती हैं। अपराध-निरोध के कार्य को सफल बनाने के लिये नशाबन्दी के कानून को अति शीघ्र जारी करना चाहिये। नशीली चीजों की बिक्री से जो गन्दी आय होती है उसकी परवाह सरकार को नहीं करनी चाहिए। महात्मा गांधी के अनुयायियों को महात्मा गांधी के आदेश का पालन करते हुए शराब और अन्य नशे की चीजों की बिक्री एकदम बन्द कर देनी उचित है। नशीली चीजें बनाने और प्रयोग में लाने वालों को दण्ड मिलना चाहिए।

अपराध-निरोध के कुछ उपाय

१—प्रत्येक नर-नारी से प्रतिज्ञा लेनी चाहिए कि वह सदाचार के नियम पालन करेगा और भ्रष्टाचार आदि से बचा रहेगा।

२—व्याख्यानों और पत्रिकाओं द्वारा भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता सम्बन्धी आन्दोलन को प्रगति दी जावे।

३—मास में एक या अधिक बार सदाचार-सैनिकों की शोभा-यात्रायें निकालने का प्रबन्ध किया जावे और इसमें भ्रष्टाचार विरोधी

ओर सदाचार समर्थक लेखों का प्रदर्शन किया जावे और ऐसे ही नारे भी लगाये जावें व गीत गाये जावें।

४—अश्लील चित्रों के उखड़वा देने का प्रबन्ध किया जावे।

५—सिनेमा के मालिकों को प्रेरणा दी जावे कि वे गन्दे गाने और चित्रों का परित्याग करदें और देशवासियों में नव-उल्लास तथा नव उत्साह पैदा करने वाले चित्र तैयार करावें। सरकार से भी सिनेमाओं पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की जावे।

६—रेडियो पर गन्दे गाने आदि तत्काल बन्द कराये जावें। रेडियो रखने वालों को भी रेडियो-विभाग से इस प्रकार की माँग करनी चाहिए।

७—समाचार-पत्रों के संचालकों से अनुरोध किया जावे कि वे अपनी नीति इस प्रकार रखें, जिससे कोई अनुचित विचार और अश्लील विज्ञापन उनके पत्रों में न छप सकें। जनता को ऐसे समाचार पत्रों का बहिष्कार करना चाहिए जो ऊपर लिखे नियमों का पालन न करें।

८—होटलों और क्लबों में घुस कर दुराचारियों की काली करतूतों का भण्डा फोड़कर उन्हें दण्ड का भागी बनाना चाहिये।

९—विद्यार्थियों में मर्यादा और सदाचार का प्रचार विशेष रूप से होना चाहिए। सह-शिक्षा के विरुद्ध आन्दोलन किया जावे।

१०—मादक द्रव्यों के निषेध के लिये आन्दोलन किया जावे और सरकार से माँग की जावे कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कानून बनाये।

११—अश्लील साहित्य की खोज की जावे और ऐसे साहित्य के लेखकों व प्रचारकों को दण्ड दिलाने का प्रयत्न किया जावे।

१२—ग्रामों और नगरों में प्रचार द्वारा सादा जीवन और उच्च विचारों को प्रोत्साहित करना चाहिए।

उपसंहार

अपराध-निरोध जैसे आवश्यक विषयों पर, कुछ विचार ऊपर दिये गये हैं। स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक नर-नारी को अपराधों से बचने के लिये जो बातें आवश्यक हैं, वे ऊपर लिखी गयो हैं। जिन भावनाओं को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है, वे भी लिखी गई हैं। अपराध-चिकित्सा का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति से है। किसी न किसी अंश में सभी कुछ न कुछ अपराध करने लगते हैं। ऐसे संक्रामक रोग का उपचार भी उन्हीं उपायों से हो सकता है, जिनको सबका सहयोग प्राप्त हो। अपराध निरोधक कार्य एक ऐसे सहयोगी चिकित्सालय (Co-operative Hospital) द्वारा करना है, जिसमें रोगी स्वयं अपना इलाज कराते रहें, और दूसरों के इलाज में सहायक हों। अपराध-निरोध की समस्या पर विचार करते समय, विचारक को अपनी ही ओर ध्यान देना चाहिये, और सुनने वालों को उन बातों पर ध्यान देना चाहिए जिन्हें कहने वाला कह रहा है। कहने वाले की व्यक्तिगत परिस्थिति पर ध्यान देना उचित नहीं। अपराध करना पुराना और प्रचलित रोग है। दुर्भाग्यवश सम्प्रति उस रोग ने एक भयङ्कर रूप धारण कर लिया है। इसकी चिकित्सा के लिये प्राचीन नुस्खे जो शास्त्रों में दिये हुए हैं, वे ही पर्याप्त हैं, केवल उन्हें प्रयोग में लाने की आवश्यकता है। अपराध काम, क्रोध, लोभ, मोह की अनुचित भावना से होते हैं और व्यक्तिगत उनका निरोध स्वाध्याय, शौच, तप, सन्तोष तथा ईश्वर प्रणिधान से हो सकता है। सामाजिक रूप से निराकरण करने के लिए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय तथा अपरिग्रह की आवश्यकता है। इन प्राचीन विधियों का यथाविधि प्रयोग किया जाय तो अपराध रोग के शीघ्रतर दूर हो जाने की पूरी आशा है।

६—चरित्र और भ्रष्टाचार निरोध

उत्तर-प्रदेश सरकार ने एक नवीन विभाग "समाज-कल्याण" के नाम से स्थापित किया है। उसका उद्देश्य समाज में फैली हुई बुराइयों को दूर करना है, और जनता के सहयोग से सामाजिक स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय और सामाजिक समन्वय को प्राप्त करने की चेष्टा करना; साथ ही प्रचलित सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लोक-मत तैयार करना है। उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति व्यक्तिगत चरित्र-निर्माण के आधार पर ही हो सकती है। जब व्यक्तिगत चरित्र मर्यादित होगा तभी सामाजिक उन्नति भी हो सकेगी और सामाजिक कुरीतियों का निराकरण भी होगा। व्यक्तिगत चरित्र-निर्माण के लिए अपराधों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने की आवश्यकता है। यदि हम मनोविज्ञान के आधार पर यह निर्णय कर सकें कि जिन कारणों के आधार पर प्रचलित अपराधों की संख्या बढ़ रही है और जनता अपराध करती हुई भी यह अनुभव नहीं करती कि अपराध हो रहे हैं और उसकी दशा दूषित होती जा रही है तो अपराध निवारण में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। जब तक रोगी में अपने को रोगी होने का भाव न हो तब तक वह उस रोग की औषधि खोज कर स्वस्थ होने की चेष्टा भी नहीं कर सकता है। नीचे कुछ विचार दिये जाते हैं, जिनके प्रकाश में वे कारण विदित हो जायेंगे, जिनके आधार पर जाने-अनजाने साधारणतया अपराध हुआ करते हैं। उन विचारों के निराकरण के लिये भी कुछ विचार साथ ही साथ दिये जाते हैं।

(१) अरे भाई, आजकल तो अपराध सभी करते हैं, कौन बचा है इस बला से, मैं भी करता हूँ तो क्या हुआ। आज कौन हरिश्चन्द्र है, सब कहते ही कहते हैं, करने से कोई नहीं चूकता।

इस भावना के कारण अपराध करने वाला अपने को बहुमत का साथी समझता है, और वह अपराध करने में लज्जा या संकोच नहीं करता।

(२) आजकल परिस्थिति कुछ ऐसी बन गयी है कि अपराध करना ही पड़ता है, बिना अपराध किये काम नहीं चलता। न खाना मिलता है और न कपड़ा। आय कम और व्यय अधिक है बेईमानी न करें तो काम कैसे चले। इस भावना के कारण भी अपराध करने वाला अपराधी, अपने को निर्दोषी ही समझता है।

(३) अपने-अपने व्यवसाय में सब को धन कमाने का अधिकार है। कोई भी अपने व्यवसाय के लिये नियम-मर्यादा स्वीकार नहीं करना चाहता, नियम-मर्यादा की बात उठते ही कहा जाता है कि घोड़ा दाने घास से यारी करेगा तो जियेगा कैसे ? इस कहावत ने प्रत्येक व्यवसाय में भ्रष्टाचार को आश्रय दिया है।

(४) "लक्ष्य पूरा होना चाहिये साधन चाहे कैसे ही हों। इस भावना ने भी भ्रष्टाचार की वृद्धि की है। लक्ष्य तो उत्तम होना ही चाहिए, परन्तु साधनों की उत्तमता भी आवश्यक है। यदि अच्छे, बुरे सभी साधनों से स्वार्थ पूरा किया जाना उचित समझा जाये तो संसार में कोई अपराध ही न रह जायेगा। जीवन और समाज की उन्नति में लक्ष्य और साधन दोनों ही समुचित और पवित्र होने चाहिये।

(५) संसार में धनवानों का मान है, धनी के विषय में यह कोई नहीं जानना चाहता है कि उसने यह धन कैसे कमाया या कहाँ से प्राप्त किया। चोरबाजारी द्वारा धन कमाने वाला बड़ी कोठी या हवेली बनाता है, गृह-प्रवेश यज्ञ कराता है, बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित यज्ञ कराने आते हैं, दक्षिणा लेते हैं, प्रीति-भोज में नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, और प्रशंसा करते हुए चले जाते हैं। इस प्रकार का लोक-व्यवहार देखकर चोर बाजारी या अन्य अनुचित उपायों द्वारा धन कमाने की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(६) चालाक व्यक्ति सर्वत्र सफलता प्राप्त कर रहे हैं, सीधे आदमियों का कहीं ठिकाना नहीं है, इस भावना के कारण ईमानदार व्यक्ति भी अपना सीधापन छोड़ कर चालाक बनने का प्रयत्न करते हैं। ईमानदार व्यक्ति को जब मूर्ख समझा जाता हो, तब कोई विरला ही वैसा बनना पसन्द करेगा। फलतः धोखा देना प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव-सा बन गया है।

(७) विवाह-सम्बन्ध के समय लड़के या लड़के के परिवार वालों की ऊपरी आमदनी देखकर बात तय की जाती है। जब विवाह जैसे सामाजिक और धार्मिक कार्य में अनुचित आय सहायक सिद्ध होती है, तब रिश्वत लेने तथा अन्य अपवित्र साधनों द्वारा धन कमाने को कौन बुरा समझेगा।

(८) मेरा अपराध कोई न जान सकेगा, मैं एकान्त स्थान में, रात्रि के अंधेरे में, दुनिया की आखों में धूल झोंककर अपराध करने में सफल हो जाऊंगा। इस प्रकार छिपकर अपराध करने की भावना भी अपराध में सहायक होती है। यदि अपराधी को यह ज्ञान हो जाये कि अपराध छिप नहीं सकता, मनुष्य नहीं तो ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और सर्व व्यापक है, तो अपराध कम हो सकते हैं।

(९) मेरे अपराध को यदि कोई जान भी लेगा तो मैं खुशामद, सिफारिश, रिश्वत, भय, प्यार आदि के द्वारा साफ बच जाऊंगा। मुझे बचने की बड़ी-बड़ी तरकीबें आती हैं, यह भावना उस भावना के समान है जिसके अनुसार मनुष्य पाप करके धर्म के आधार पर पाप मोचन को आशाओं की ईश्वर से प्रार्थना किया करता है। इस भावना का चरित्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इस दुर्भावना की प्रचुरता ने हमारे देश की प्रबन्ध तथा न्याय व्यवस्थाओं को खोखला कर दिया है। पहले तो अपराधी छोटे अधिकारियों को प्रलोभन देकर बचने में सफलता प्राप्त कर लेता है और यदि किसी कारण मामला न्यायालय तक पहुँचा तो वहाँ भी उसी अनुचित-प्रक्रिया द्वारा वह सफल होने की आशा रखता है।

(१०) धार्मिक जीवन की आवश्यकता तो साधु-सन्तों के लिये है, सांसारिक व्यक्तियों के लिये उसकी क्या उपयोगिता। इस भावना ने भी भ्रष्टाचार की वृद्धि की है। इस विचार धारा के लोग जिन धार्मिक कृत्यों को करते हैं वे रूढ़िवाद या रस्म अदायगी के कारण ही करते हैं। अतः उनका जीवन नहीं सुधरता। वे दीन के रहते हैं न दुनिया के। सच्चा दीन तो दुनिया के लिए ही है।

(११) पूजा-पाठ तो बुढ़ापे के लिये हैं अभी तो जवानी के दिन हैं, काम करने के दिन हैं। जितनी देर संध्या में लगाई जाये उतनी देर में दस-पांच रुपये का धन्धा क्यों न किया जाये। यह भावना भी बड़ी हानिकारक है। युवावस्था में ही आन्तरिक अंकुश की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। जब घोड़ा बलवान हो तभी उसके लिये लगाम चाहिये, बूढ़ा टट्टू तो वैसे ही घूम सकता है।

(१२) अपराध करने वालों का किसी ने क्या कर लिया, मेरा भी कोई क्या कर सकेगा। यह भावना उस समय उत्पन्न होती है, जब हम किसी अपराधी को कुछ समय के लिये दण्ड से बचा हुआ देखते हैं। इससे अपराध वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, कर्म का फल अनिवार्य है यदि इस भावना का प्रचार हो तो यह फल न मिलने की भावना बदल सकती है।

(१३) युद्ध और प्रेम में सब कुछ उचित है, इस भावना के कारण मनुष्य अपने शत्रु के प्रति हानिकारक उपायों का उपयोग करने और अपनी इष्ट-पूर्ति के लिये मनमाने साधन जुटाने में लगा रहता है। उस समय उसे उचित अनुचित का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। इसी भावना को नष्ट करने के लिये हमारे धर्मशास्त्रों ने युद्ध-मर्यादाओं और मित्रता के आदर्शों की स्थापना की थी।

उपर्युक्त तथा इसी प्रकार की अन्य भावनाएँ भ्रम-मूलक तथा हानिकारक हैं। इनको नष्ट करने के लिये समाज में पूर्ण रूप से प्रयत्न होना चाहिये।

(१) पाप की कमाई टिकती नहीं। पाप का धन नष्ट होने की अनेक घटनायें प्रत्येक व्यक्ति के जोवन में घटित होती हैं, कभी-कभी बेईमानी के धन से बनाया हुआ मकान अग्निकाण्ड, भूकम्प, या अन्य कारण से मिनटों में बरबाद हो जाता है।

(२) ईश्वर के यहाँ देर है अन्धेर नहीं, इस भावना के प्रचार से ईश्वरीय न्याय में विश्वास बढ़ता है और अपराधी को दण्ड अवश्य मिलेगा के आधार पर धैर्य धारण की शक्ति प्राप्त होती है।

(३) ईमानदार गरीब, बेईमान अमीर से अच्छा है। भावना के प्रचार से सादा और सच्चा जीवन बिताने वालों का सम्मान बढ़ेगा।

(४) ईश्वर सर्व व्यापी है, उससे कुछ नहीं छिप सकता। उसके दो-चार नहीं सहस्रों आंखें हैं। इस प्रकार ईश्वर की सर्वव्यापकता को जानने वाला अपराध करने में सदैव संकोच करेगा।

(५) अन्त भला तो सब भला। इस भावना से अपने सदाचार पर दृढ़ रहने की शक्ति बढ़ेगी।

आर्थिक दृष्टि से भ्रष्टाचार-प्रचार पर विचार करने की आवश्यकता है। जो लोग कहते हैं कि व्यय अधिक है, आय कम, फिर काम कैसे चले, उन्हें अपनी आमदनी के अन्दर ही व्यय व्यवस्था करनी चाहिये अथवा उचित और वैध उपायों से, पुरुषार्थ-पूर्वक आय बढ़ाना चाहिये। जो व्यय विलासिता के अन्तर्गत आते हैं उन्हें तुरन्त बन्द कर देने की जरूरत है। पेट की खातिर सब कुछ किया जाता है। यह उक्ति प्रसिद्ध है, परन्तु पेट तो अन्न, जल मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है, उसे ठाठ-बाट की जरूरत नहीं होती। ठाठ-बाट तो विलासिता की पूर्ति के लिये किया जाता है, और उस पर अनावश्यक व्यय होता है। इस व्यय को कम या बचाकर आय के अनुचित साधनों से बचाया जा सकता है, और इस प्रकार आर्थिक समस्या हल हो सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता, अपने साधन और सामर्थ्य के अनुसार स्वयं निर्धारित करनी चाहिये। प्रचलित समाज की रूढ़ि और प्रथाएं माननीय होती हैं; परन्तु हमें यह

प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हम ईमानदारी तथा पुरुषार्थ से कमायेंगे और जितना धन हमें व्यवसाय से मिल जायेगा या पैतृक सम्बन्ध से प्राप्त होगा उसकी सीमा के अन्दर ही हम अपने व्यय का बजट बनायेंगे। भ्रष्टाचार जब बढ़ता है, तब प्रत्येक व्यक्ति और परिवार व्यय का बजट पहले बना लेता है और फिर उस की पूर्ति के लिए अर्थ प्राप्त करने का यत्न करता है और विवश हो जाता है कि धन प्राप्ति के लिये उचित अनुचित साधनों पर विचार किए बिना ही आमदनी बढ़ावे। आजकल जो कुछ हो रहा है वह पेट के नाम पर। परन्तु उदरपूर्ति की परिभाषा बड़ी विचित्र है। मोटर कार रखना, रेडियो बजाना, सिनेमा देखना भी पेट पूर्ति के अन्दर समझे जाते हैं। खाना, कपड़ा और रहने के मकानों की भी कोई परिभाषा निश्चित नहीं है। खाने-पीने में माँस-मदिरा आदि भी शामिल हैं। सब के लिये नहीं परन्तु कुछ के लिये अवश्य। रहने के मकानों का तो कहना ही क्या ? बड़ी-बड़ी हवेली वाले भी यह अनुभव करते हैं कि उनकी आवश्यकताओं को लक्ष्य में रखकर वह बड़ी हवेली भी छोटी है। आर्थिक दृष्टि से भ्रष्टाचार उस समय तक नहीं रुक सकता जब तक कि भारत की जनता में जागृति न हो कर आय के साधनों की पवित्रता पर बल न दें। जब तक मानसिक वृतियाँ नहीं बदलतीं तब तक अन्न उपजाओ, अधिक पेड़ लगाओ और अधिक मशीनें लगाओ आदि कहने से सामग्री, इत्यादि में वृद्धि हो सकती है परन्तु चरित्र-निर्माण पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। आय बढ़ाना तो ठीक है परन्तु आय मुख्य और व्यय गौण होना चाहिए। यदि व्यय मुख्य हो तो आय की प्राप्ति में भ्रष्टाचार बना रहना स्वाभाविक-सा है।

भ्रष्टाचार और सफलता और प्रतिष्ठा प्राप्ति।

जिस प्रकार आय बढ़ाने के विचार से भ्रष्टाचार में वृद्धि हो रही है उसी प्रकार शीघ्र सफलता या प्रतिष्ठा प्राप्ति का मोह भ्रष्टाचार

को बढ़ा रहा है। सफलता-असफलता और प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा पर भी मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करना है।

अनैतिकता वृद्धि का एक कारण यह भी है कि प्रत्येक व्यवसाय में प्रत्येक व्यक्ति सफलता चाहता है और इस सफलता को प्राप्त करने के लिए साधनों के उचित और अनुचित साधनों पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा जाता। व्यवसाय के अन्तर्गत ही नौकरियाँ भी आ जाती हैं।

प्रत्येक व्यवसायी और प्रत्येक विभाग में नौकरी करने वाला यह कहता सुना जाता है कि घोड़ा घास से यारी करके कहाँ रह सकता है। उनका अभिप्राय यह होता है कि घोड़े वे स्वयं हैं और अपने व्यवसाय तथा नौकरी के क्षेत्र में जो प्रलोभन आते हैं वे दाने घास के समान हैं। इस आधार पर न्यायालयों में वकील, अहलकार, वादी-प्रतिवादियों से अनैतिकता का पूर्ण व्यवहार करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं। चिकित्सक रोगी से फीस लेना अपना अधिकार समझता है। फीस की मात्रा बढ़ाने में रोग वृद्धि भी करनी पड़े, या स्वस्थ होने की अवधि बढ़ानी पड़े तो उसे उसमें प्रायः संकोच नहीं होता। आयु सम्बन्धी और रोगी होने न होने सम्बन्धी झूठे-सच्चे प्रमाण-पत्र चिकित्सकों से न्यूनाधिक व्यय करके मिल ही जाते हैं। यही दशा प्रायः प्रत्येक विभाग की है। क्या बेईमानी से वास्तविक सफलता मिल सकती है, यह प्रश्न विचारणीय है। व्यवसाय में ईमानदारी स्थायी रूप से लाभदायक है, यदि यह साख जम जाए कि अमुक व्यवसायी ईमानदार है और जैसा कहता है वैसा ही करता है तो उसकी आय में वृद्धि अवश्य होती है। सम्भव है, प्रारम्भ में कुछ समय अधिक लगे, कठिनाई का सामना भी करना पड़े परन्तु इसका परिणाम बड़ा अच्छा होता है। व्यवसाय के तीन मुख्य वर्ग हैं। अर्थात उत्पादक वर्ग, विक्रेता वर्ग और दोनों का पारस्परिक सहयोग वर्ग। यदि उत्पादन वाले उत्पत्ति के समय अर्थात वस्तु बनाते समय यह

ध्यान रखें कि जो चीज वे बनायेंगे या बना रहे हैं, उसमें कोई धोका-धड़ी न की जायगी। तो जो पदार्थ तैयार होगा, वह विशुद्ध होने के कारण अधिक बिक सकेगा। दुःख तो यह है कि वस्तु बनाने और बनवाने वाले दोनों इस घात में रहते हैं कि हर्रा लगे न फिटकरी रंग चोखा ही आवे। कम खर्च में पदार्थ बन जाए। ऊपर रूप-रंग ऐसा हो कि खरीदने वाला धोखे में आजाए तो वह अपने इस कार्य को सफल समझते हैं। उस समय वह यह भूल जाते हैं कि काठ की हाँड़ी एक ही बार आग पर चढ़ती है। जब पोल खुल जाती है तो उन्हें कोई पूछता भी नहीं। इस दूषित मनोविज्ञान के कारण बहुत से कारखाने वाले बर्बाद हो गये। और हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। वस्तु बनाने वालों से भी बुरा हाल उन बेचने वालों का है। दूकानदारों की दूकानदारी ईमानदारी से चलती है। किसी-किसी की दूकान बेईमानी से कुछ समय के लिये चल जाती है, परन्तु अन्त में घाटा ही होता है, अतएव आवश्यक है कि जहाँ हम उत्पादन की विधि विशुद्ध बनाने और उत्पादन की मात्रा बढ़ाने पर विचार करें वहाँ उसके उत्पादक व्यक्तियों के चरित्र पर भी विचार करें। उनको नैतिकता की शिक्षा दें और प्रत्येक क्षेत्र में इसका ध्यान रक्खें। दूकानदारों को भी नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाय।

जब तक नौकरी करने वालों के मस्तिष्क से यह भावना नहीं निकल जाती कि उनके काबू में आये लोगों से अनुचित लाभ उठाना उनका अधिकार है, उस समय तक नैतिकता का प्रचार और विस्तार नहीं हो सकता। अदालतों और दफ्तरों में "हक" के नाम पर नाहक भ्रष्टाचार बढ़ रहा है। नौकरी करने वाले, आय कम और व्यय अधिक होने की युक्ति देकर दूसरों को ठगना चाहते हैं। व्यवसायी लोग भी सफलता के नाम पर भ्रष्टाचार करने में बुराई नहीं समझते। नित्य-प्रति इस भ्रष्टाचार की वृद्धि हो रही है। परन्तु कोई कुछ कहे और करे अन्त में सत्य और ईमानदारी की ही विजय होती है, असत्य तो केवल कुछ समय के लिये अपनी क्षणिक प्रभा फैलाता

है। यदि अपराधों के प्रश्न पर दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो उनका सम्बन्ध अभाव, अज्ञान और अन्याय से है।

अपराध और शासन का दृष्टिकोण

शासन की दृष्टि से अपराधों के निराकरण का प्रश्न पुलिस, न्यायालय और जेल से सम्बन्धित है। इन तीनों का सन्बन्ध न्याय-व्यवस्था से है, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। न्याय व्यवस्था का लक्ष्य नियमों का पालन, निर्धारण और पालन, शान्ति भंग न होने देना है इसके लिये यह आवश्यक है कि पुलिस साक्षी का अग्रह जांच और अपराधी का अपराध निर्धारित करते समय सत्य तथा न्याय को लक्ष्य में रखें। इसी प्रकार जेलों में भी अपराध के रोग की चिकित्सा होनी चाहिये। जेलों का नाम नैतिक चिकित्सालय या बन्दी सुधार गृह होना ठीक है। अपराध मुख्यतः काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि की दूषित भावनाओं के कारण हुआ करते हैं, जेल में उसका उपचार करना है।

१०—चरित्र और आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक दृष्टि से

आय में वृद्धि से आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति। आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता से मुक्त रहना।

आर्थिक दृष्टि से केवल आय की वृद्धि की चिन्ता करने से आर्थिक संकट दूर नहीं हो सकता। आवश्यक यह है कि आय की वृद्धि के साथ-साथ व्यय में कमी भी करने पर विचार किया जाये। व्यय की कमी के लिये हमें अपना स्वभाव, अपनी आदतें, अपना आदर्श, निर्माण करना पड़ेगा। महात्मा गाँधी जब स्वराज्य का आन्दोलन कर रहे थे उस समय वह भारत को आर्थिक दृष्टि से सुखी बनाने के लिये सदैव व्यय की कमी पर बल देते थे। आज दशा यह है कि प्रत्येक को आय

बढ़ाने की धुन है। परन्तु व्यय किस प्रकार कम हो सकता है उस पर ध्यान नहीं है। आय बढ़ाना किसी हद तक अपने आधीन है, परन्तु यदि लक्ष्य आय बढ़ाना ही होगा और व्यय की ओर ध्यान नहीं होगा तो सम्भव है कि पूरा पुरुषार्थ करने पर भी पर्याप्त आय न हो और व्यय शेष रह जाये जिनकी पूर्ति के लिये अनुचित उपाय प्रयोग में लाने पड़ें। व्यक्तिगत दृष्टि से व्यय का लेखा प्रत्येक को रुढ़िवाद, रिवाज, सामाजिक परिस्थिति, वंश परम्परा, के आधार पर नहीं बनाना चाहिये। यदि व्यय का लेखा उपरोक्त आधार पर बनेगा तो उसका पूरा होना सम्भव नहीं और उनकी पूर्ति के लिये अनुचित उपाय प्रयोग में लाने होंगे। ऐसी परिस्थति में यह आवश्यक है कि व्यय को मर्यादित किया जाये और व्यय की मर्यादा से अभिप्राय यह है कि आवश्यकताओं को मर्यादित किया जाये। जो अति आवश्यक हो उसके लिये व्यय करना तो अनिवार्य है। साधारणतया व्यय तीन श्रेणियों में विभाजित हो सकता है।

(अ) सुख, चैन और मनोरंजन में (Luxuries)
(ब) आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति में (Necessities)
(स) दुरव्यसनों में (evils)

यदि प्रत्येक नागरिक अपने व्यय के बजट को उपरोक्त तीनों श्रेणियों में विभाजित करे तो उसको सबसे पहले जो उसके दुरव्यसन हैं उनका त्याग करना होगा। उसके पश्चात् उसको जो व्यय (अ) के अन्तर्गत अर्थात् सुख, चैन और मनोरंजन के अन्तर्गत आते हैं उन पर विचार करना होगा। सबसे अधिक बल उसको आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाना पड़ेगा और क्या आवश्यक है इस पर भी प्रत्येक अवसर पर विचार करना होगा। अमेरिका के एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है कि यदि प्रत्येक प्राणी जब किसी पदार्थ के क्रिया करने की इच्छा करे तो उसको यह सोचना चाहिये कि क्या इसका खरीदना अनिवार्य है ? क्या इसके वगैर वह नहीं रह सकता ? क्या इस प्रकार की वस्तुएं उसके पास अभी पर्याप्त नहीं हैं ? क्या वह

इसमें व्यय करके अपनी अन्य आवश्यक कार्यों की पूर्ति से वंचित तो नहीं हो जायगा ? यदि उपरोक्त चार प्रश्नों पर विचार कर लिया जाये तो खरीदते समय एक प्रकार की चेतावनी स्वयमेव, स्वभाव का अंग बन जायेगी और सम्भव है कि कई बार कोई व्यक्ति खरीददारी से रुक जाये और उस धन को अन्य आवश्यकताओं के लिये बचा सके। मनोरँजन भी जीवन के लिये आवश्यक है। और वह भी किसी सीमा तक आवश्यकता की श्रेणी में आते हैं। परन्तु उनके सम्बन्ध में निर्णय करने में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छाओं और भावनाओं को मर्यादित करना होगा। यदि इच्छायें मर्यादित हुई तो बहुधा जिन्हें हम केवल सुख, चैन और मनोरंजन के आधार पर करेंगे अथवा उसमें संलग्न होंगे, जरा सी भूल से वह परिवर्तित होकर दुरव्यसन का रूप धारण करेंगे। और दुरव्यसन में फंसा हुआ व्यक्ति किसी प्रकार के मनोरंजन में कुछ स्वरक्षित और मर्यादित नहीं रह सकता। और उसको अपने आवश्यक व्यय से वंचित होना पड़ेगा। व्यक्तिगत जीवन में हमें अपने स्वभाव को मनोविज्ञान की दृष्टि से ठीक बनाना है और अपने दृष्टिकोण को ठीक रखना है। भारत की संस्कृति बड़े बनाने के लिये अधिक व्यय की द्योतक नहीं थी। भारतीय संस्कृति में बड़प्पन और महत्व कम व्यय, कम दिखावा और कम अनुकरण में था। जितने प्रसिद्ध राजनीति के विचारक हुए हैं उनके लिए तप और त्याग की गाथाएं प्रसिद्ध हैं। चाणक्य जो प्रसिद्ध अर्थशास्त्र का विद्वान था, राजनीति का विशारद था, उसके लिये प्रसिद्ध है कि वह प्रधान मन्त्री होता हुआ भी एक फूस के झोंपड़े में नदी के तट पर निवास करता था। आज भारत देश के सामने एक समस्या है। ३६ करोड़ की आबादी है उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की योजनायें बनाई जा रही हैं। परन्तु जो योजनायें बन रही हैं उनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि देश के लिये हितकारी अवश्य हैं परन्तु वर्तमान परिस्थिति में उनमें से बहुत ऐसी हैं जो आर्थिक दृष्टि से सामर्थ के बाहर हैं।

जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में व्यय के मर्यादा की आवश्यकता है उससे अधिक आवश्यक सामाजिक जीवन में और राष्ट्रीय जीवन में व्यय का मर्यादित होना अनिवार्य है ।

सामाजिक जीवन में

हम केवल उदाहरण के लिये सामाजिक जीवन के दो आवश्यक उदाहरण उपस्थित करेंगे, एक विवाह दूसरे मृत्यु के अवसर पर व्यय।

विवाह में बरात, बाजा, शान, दिखावा, दावत, धूमधाम, तड़क-भड़क विवाह के आवश्यक अंग बने हुए हैं। हर एक को दहेज की कुप्रथा सता रही है। हर एक को विवाह के अवसर पर व्यय के साधन जुटाने में महान् कठिनाई होती है परन्तु होती आई है, करना ही पड़ेगा, नहीं करेंगे तो नाक कटेगी, बदनामी होगी। ऐसे विचार सामने आते हैं और अच्छे से अच्छे व्यक्ति को मार्ग से विचलित कर देते हैं। वह व्यय के साधन जुटाने में तत्पर हो जाते हैं और उपायों के उचित और अनुचित होने पर ध्यान नहीं दे पाते। व्यय के अधिक होने से आर्थिक परिस्थिति चिन्ताजनक हो जाती है। इसी प्रकार जब परिवार में मृत्यु हो जाये तो मृत्यु के पश्चात जो व्यय करना पड़ता है, दावत देनी पड़ती है, बिरादरी को एकत्रित करना पड़ता है, यह सब व्यय बड़ा आवश्यक प्रतीत होता है परन्तु यदि विचार की दृष्टि से देखा जाये तो मृत्यु के पश्चात् व्यय करना प्राचीन आर्य संस्कृति के बिल्कुल विपरीत है। मृत्यु के पश्चात किसी भी प्रकार का आनन्द, उत्सव मनाना, एक दूषित मर्यादा है। इस प्रकार और जो सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है उनमें भी आवश्यक व्यय करना पड़ता है। संस्कार बड़े लाभदायक हैं, परन्तु संस्कारों के साथ जबसे व्ययों का प्रश्न सम्बन्धित हुआ उस समय से संस्कारों का महत्व कम हो गया है। केवल दिखावा और धूमधाम सन्मुख है। बहुत से परिवार और व्यक्ति ऐसे हैं जो व्यय नहीं जुटा सकते और व्यय न जुटाने के कारण समय और अवसर आने पर भी आवश्यकता अनुभव करते हुए भी संस्कार नहीं करा सकते और नहीं कराते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण

से इस मनोविज्ञान का प्रचार होना चाहिये कि बड़ा वह है जो व्यय कम करता है। अधिक व्यय करने वाला बड़ा नहीं है। यदि इस प्रकार का मनोविज्ञान प्रचलित हो जायगा तो सामाजिक दृष्टि से आर्थिक संकट का निराकरण हो सकता है।

राष्ट्रीय जीवन में

राष्ट्रीय जीवन में भी व्यय की मर्यादा अति आवश्यक है। संचालक और संचालित राष्ट्र के दो अङ्ग हैं। हाकिम, अफसर, संचालक की श्रेणी में हैं और शेष संचालित की। यदि संचालन की रूपरेखा, और शान अधिक वेतन, कार और कोठी से सम्बन्धित हैं तो व्यय की मर्यादा बहुत कठिन होगी। अधिक वेतन, अधिक व्यय यह साथ-साथ चलता है और राष्ट्र की समस्या उलझती जाती है। महात्मा गाँधी ने नौकरियों के सम्बन्ध में ५०० रु० मासिक की सीमा निर्धारित कर दी थी, और उनका अभिप्राय था कि यदि नागरिकों में यह भावना है कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् उनके संचालक इस भावना के हैं कि वह तप और त्याग से जीवन व्यतीत करते हैं वास्तविक अर्थ में जनसेवक हैं तो उनके अन्दर अधिक श्रद्धा उत्पन्न होगी। वह अपने-अपने संचालक के जीवन से शिक्षा लेंगे और स्वयं भी नागरिक अपने जीवन को मर्यादित करने के लिये उत्साहित होगा। यदि यह भावना रही कि बिना कार के व्यक्ति बेकार है तो कार के लिये अवश्य चिन्ता होगी और कार जुटाने के लिये हर प्रकार के कार्य करने पड़ेंगे, बुरे-भले अनुचित, इसीलिए जहाँ वर्तमान संचालक कर लगाकर आय बढ़ाने की चिन्ता कर रहे हैं उनको नवीन कर लगाने के साथ-साथ व्यय में भी कमी करने के उपाय पर विचार करना चाहिये और यदि वह अधिकारी साधारण भावना में रहा केवल आवश्यक राष्ट्रीय कामों के लिये मोटर प्रयोग कर सका तो एक राष्ट्र में एक ऐसा मनोविज्ञान उत्पन्न होगा जिससे स्वयमेव व्यय में कमी हो सकेगी और अधिक व्यय होने के कारण जो अधिक आय बढ़ाने की चिन्ता होती है जिसका नाम बहुधा भ्रष्टाचार

हो जाता है उसमें कमी हो जायगी। आगामी निर्वाचन में यह पृथा होनी चाहिये कि जो उम्मीदवार सबसे कम व्यय करेगा वह सच्चा देश सेवक है। अधिक व्यय करने वाले के लिये यह धारणा होती है कि यह अधिक व्यय अधिक कमाई के लिये कर रहा है। अधिक व्यय करके निर्वाचन में सफल होगा और निर्वाचित होकर अपने पद का दुरुपयोग करेगा और किसी न किसी प्रकार से आय बढ़ाने की चिन्ता करेगा और अपने व्यय की पूर्ति करेगा। जो कमाई की दृष्टि से निर्वाचन में भाग लेता है वह राष्ट्र के लिये अहितकर है और मर्यादा भंग करता है। आज कृषि में बड़े-बड़े जमीदारों को मिटाकर, राजाओं को मिटाकर, भूमियाँ नागरिकों में इस प्रकार विभाजित की जा रही हैं कि किसी व्यक्ति के पास १०० बीघे से अधिक भूमि न हो और इसका अभिप्राय यह है कि जितनी भूमि जिसके पास है वह उसको ठीक-ठीक रख सके और उसकी आय से अपना जीवन निर्वाह कर सके। जो दृष्टिकोण व्यवसाय, वाणिज्य और अन्य विभाग में है वह दृष्टिकोण सबसे पहले राष्ट्र के संचालकों को अपने सम्बन्ध में चरितार्थ करना चाहिये। यदि आगामी निर्वाचन से पूर्व अपने राष्ट्र के संचालक मन्त्री मण्डल अपने त्याग का परिचय देकर : व्यय के सम्बन्ध में मौलिक परिवर्तन करके अपने साम्यवाद के प्रेम और नीति का परिचय दें तो जनता में एक विशेष श्रद्धा की लहर उत्पन्न हो सकती है। आज पंचवर्षीय योजना के नाम पर नमक, अनाज, चीनी, आटा, कपड़ा, सब पर कर लगाया जा रहा है। परन्तु एक ओर जनता को अपनी ओर खींचना है और दूसरी ओर विशेष, नवीन कर लगाकर उनको अपने से विरुद्ध करना है। यदि योजना की पूर्ति के लिये व्यय की आवश्यकता है तो जिनके द्वारा व्यय होता है जो साम्यवाद के प्रेमी और प्रचारक हैं जिनका आदर्श मोटा पहनना है, सादा जीवन है वह अधिक व्यय के लिए वेतन वृद्धि के लिये क्यों आन्दोलन करते हैं इससे जनता में एक बड़ी विपरीत भावना उत्पन्न होती है। आगामी वजट में व्यय की कमी में मौलिक परिवर्तन होना चाहिये और उस

परिवर्तन को निर्धारित करते समय पूर्वीय संस्कृति के आदर्श को लक्ष्य में रखना होगा। अब हमारे राष्ट्र निर्माताओं को पद यात्रा की अच्छी सूझी है। आचार्य विनोवा भावे ने पैदल चलकर वह प्रभाव उत्पन्न किया है कि हवाई जहाज और मोटरों में बैठने वाले उनकी ओर बड़ी आदर की दृष्टि से देखते हैं। निर्वाचन में सफलता के लिये जिस प्रकार पद यात्रा पर बल दिया गया है उसी प्रकार यदि राष्ट्र संचालक इस दृष्टिकोण के हों कि संचालक अपने आप को जनता के सम्पर्क में आने में गौरव अनुभव करें, ऊँचे रहने, दूर रहने, रौब गाँठने में नहीं। जो मनोविज्ञान पद यात्रा में है वह मनोविज्ञान साधारणतया राष्ट्र प्रबन्ध का आधार बनाना चाहिये। अभिनन्दन पत्र, प्रीतभोज, उद्घाटन, इनकी संख्या कम होनी चाहिये। यदि जनता यह देखे कि संचालक उच्च विचार और सादा जीवन के प्रेमी हैं तो वह अपने जीवन में भी उसी प्रकार की मर्यादा लाने का यत्न करेंगे। यदि कई हजार लेने वाला मन्त्री जनता को त्याग के लिये उपदेश करे और जनता यह देखे कि वह स्वयं मन्त्री पद प्राप्त करने से पूर्व एक साधारण नागरिक थे तो उन पर ऐसे उपदेश का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। कर बढ़ाने की आन्धी का युग है। मैंने इस आन्धी में व्यय की कमी का ब्रेक लगाने का यत्न किया है यदि इसकी ओर ध्यान किया गया तो आशा है कि राष्ट्र की आर्थिक परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन हो जायेगा।

दौलत की मार

एतोन्विन्द्रंस्तवाम ईशान वस्वः स्वराजम्।
न राधसा मर्धिषन्नः॥ ऋ—८-११-४

शब्दार्थ

हे मनुष्यों (एत उ) आओ, हम (नु) अब (वस्वः ईशाने) ऐश्वर्यों के ईश्वर (स्वराजं) स्वयं राजमान, स्वराढ। (इन्द्र,) परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें, भजन करें, जिससे वह (नः) हमें (राधसा) धन

द्वारा, सिद्धिश्रों के ऐश्वर्य द्वारा। (न मर्षिषत)। न मार देवे, न मिटा देवे।

भूखे मरने की बात प्रसिद्ध है। नंगों के दुःख पाने की बात को भी सब जानते हैं। बेघर श्रौर वार के सड़कों पर पड़े हुए व्यक्तियों को देखकर सबको चिन्ता होती है। परन्तु श्राश्चर्य यह है कि हम इस पर विचार नहीं करते कि दौलत की मार भूखे रहने की मार से श्रधिक दुखदाई है। दौलत श्रौर धन जीवन दाता हैं जीवन के रक्षक हैं। जीवन को उन्नत करने वाले हैं परन्तु यह उसी समय तक है जब तक धन श्रौर दौलत साघन के रूप में हमारे सम्मुख हों। यदि साधन के रूप में न रह कर धन श्रौर दौलत लक्ष्य बन जाता है, ध्येय बन जाता है तो जीवन का कारण होने के स्थान में मृत्यु का कारण बन जाता है। ऊपर के लिखे हुए वेद मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हम दौलत की मार से न मरें श्रौर इसके उपाय भी बताये गये हैं धनवान होना कोई श्रपराध नहीं, धनवानों से देश श्रौर जाति का गौरव है, श्रावश्यकता के समय धनवान ही सहायता कर सकते हैं, देविक श्रापत्तियों से बचने के लिये बड़े-बड़े मकान ही काम में श्रा सकते हैं। किसी के पास कम श्रौर किसी के पास ज्यादा दौलत होना भी कोई विशेष श्रापत्ति की बात नहीं। धन दौलत मजदूरी के रूप में हैं या भाग्य से सम्बन्धित हैं। भाग्य भी श्रपने ही पुरुषार्थ का रूप है। दूसरे शब्दों में जैसा हमारा पुरुषार्थ वैसा ही हमारा पुरुष्कार होगा। पुरुषार्थ की सामर्थ्य भिन्न-भिन्न रूप में है। शारीरिक बल, मानसिक बल में श्रन्तर है। सुविधायें किस प्रकार की प्राप्त हैं इसमें भी श्रन्तर है यदि पुरुषार्थ की मात्रा श्रौर योग्यता में भेद है तो मजदूरी में भी भेद होना स्वाभाविक है। यदि योग्यता श्रौर सामर्थ्य को लक्ष्य में न रक्खा गया श्रौर सब धान २२ पसेरी का ही भाव रहा तो श्रन्धेर नगरी चौपट राजा वाली बात चरितार्थ होगी। श्रौर टके सेर भाजी श्रौर टके सेर खाजा वाली कहावत भी सत्य हो जायेगी। इसलिये दौलत से व धन से गिलानी, घृणा करने की श्रावश्यकता नहीं, न धन

कमाने में उदासीनता की आवश्यकता है। यदि कोई धन कमाने में लगा हो तो उसको निरुत्साह भी नहीं होना चाहिये। वह जीवन के एक आवश्यक कार्य में लगा हुआ है। अभाव का निराकरण कर रहा है। किसी दूसरे के पास अधिक धन देखकर ईर्ष्या करने की भी भावना नहीं रखनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को दिन के समाप्त होने पर अपनी मजदूरी को अपने सामर्थ्य से मिलाकर देखना चाहिये। यदि मजदूरी कम है तो उसे अपने पुरुषार्थ को बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। दूसरे को कम धनवान या निर्धन बनाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जब हम धनवान बनने की चेष्टा करें तो हमें दूसरों का अहित नहीं करना चाहिये। अपना हित साधते हुए दूसरों के हितों पर भी आघात न आने दें और इस परिस्थिति में दौलत एक रोग या मृत्यु के रूप में हमारे सामने उपस्थित न हो इससे ऊँचे रहने का स्वभाव बनाना चाहिये। अभाव को भाव के रूप में लाने के लिये अपने स्वभाव को लक्ष्य में रखना चाहिये और स्वभाव की मर्यादा सबसे आवश्यक है। जिसका स्वभाव मर्यादित है वह कभी भाव में अभिमानी और अभाव में व्याकुल नहीं होगा। उसे अपने को अलग और धन और दौलत को अलग देखने की आदत डालनी होगी। ऊपर के वेद मन्त्र में यह उपदेश है कि हम ईश्वर व इन्द्र की स्तुति, प्रार्थना नित्य प्रति करते रहें। यह बात ध्यान में रक्खें कि संसार के सब ऐश्वर्य उसके ही आधीन हैं और इसलिये उसका नाम ईश्वर है। यह बात भी नहीं भूलनी चाहिये कि ईश्वर स्वयं संचालक और हमारे भाग्यों का निर्माता है, न्यायकारी है और यदि हम धन, दौलत, ऐश्वर्य, मकान, जमीन, पशु, अनाज, एकत्रित करेंगे, प्राप्त करेंगे और यदि हम यह बात ध्यान में रक्खेंगे कि इन्द रूप परमात्मा की ही कृपा से यह सब उसकी ही दी हुई दौलत है और हम तो केवल उसके प्रतिनिधि के रूप में इसका प्रयोग कर रहे हैं तो हम धन के प्रयोग के समय ईश्वर से विमुख न

होंगे और धन का दुरुपयोग न करेंगे और धन के दुरुपयोग न करने से न रोग का कष्ट होगा और न मृत्यु का भय। आज यह देखने में आता है कि मनुष्य जितना पदवी में बड़ा और धन की मात्रा में बड़ा होता जाता है उतना ही ईश्वर को भूलता जाता है। उसे दुनियाँ के इतने काम लगे रहते हैं कि उसके पास ईश्वर का नाम लेने और ईश्वर का ध्यान करने की फुरसत नहीं रहती।

वह ईश्वर का ध्यान नहीं करता केवल धन की ओर ध्यान करता है अपने पद के नशे में मस्त रहता है और परिणामस्वरूप सब कुछ होते हुए भी दुखित चिन्तित रहता है। पेट भरने का सामान रहता है परन्तु भूख के लिये तड़फता है। कपड़ों का ढेर है परन्तु अपने को नंगा अनुभव करता है। ७ मंजिल हवेली में रहता हुआ भी दूसरे की ८ मंजिल देखकर यह अनुभव करता है कि उसके रहने के लिये मकान ही नहीं है। यदि प्राचीन वैदिक शिक्षा के आधार पर धन कमाते समय, धन जमा करते समय और धन को व्यय करते समय ईश्वर, इन्द्र परमात्मा का ध्यान रक्खे तो धन साधन रूप में होकर हमारे जीवन को पवित्र बना देगा। इस निर्माण के युग में जहाँ अनेक प्रकार की योजनायें बन रही हैं, खाद्य पदार्थ अधिक उपजाओ, अधिक पेड़ लगाओ, पानी को जमा करो, बिजली की शक्ति को बढ़ाओ, यह सब उत्तम लाभदायक योजनायें हैं परन्तु सबसे अधिक आवश्यक है मानव निर्माण। यदि मानव का भी निर्माण होता गया उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति के विकास पर भी ध्यान दिया गया तो उसकी आत्मा बलयुक्त होगी और आत्मिक बल के सहारे वह अपने शारीरिक बल और मानसिक बल का न केवल विकास करेगा परन्तु उसका सदुपयोग भी करेगा। हमारी राष्ट्रीय सरकार जैसा मैंने ऊपर दरशाया है अधिक कर लगाकर विदेश से सहायता लेकर, विदेश से ऋण लेकर, देश में ऋण की योजनायें बनाकर, आय के बढ़ाने के उपायों पर बल दे रही है और इस आय बढ़ाने की चिन्ता में कोई उपाय छोड़ा नहीं गया है। मैं राष्ट्रीय सरकार के विधाताओं से

अपने समान प्रजावर्ग से और सबसे यही अनुरोध करूँगा कि वह आय और व्यय को एक साथ अपने सामने रक्खे, प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने जीवन पर बजट बनाना है। ईश्वर की ओर से जो अवसर उसे प्राप्त है उससे पूरा लाभ उठाना है और यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आय को बढ़ाते हुए अपने-अपने व्यय को भी मर्यादित करता जाये तो कभी दिवाला निकालने का अवसर नहीं आयेगा और नित्य-प्रति आनन्द के रूप में दिवाली ही रहेगी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में सायंकाल और प्रातः काल विचार करना होगा यदि वह शीशा देखे तो अपनी सुन्दरता परखने के लिये नहीं परन्तु यह विचार करे कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ, मुँह दिखाने काबिल हूँ या नहीं। मेरे मुँह पर कोई ऐसा दाग या धब्बा तो नहीं है जिसको देखकर जनता मेरी निन्दा करे और मेरे अपमान का कारण बने।

हमें चाहिये कि हम अपनी चाह को निर्धारित करते समय केवल अपनी चाहना को ही नहीं इस बात पर भी ध्यान करें कि हमें क्या चाहिये। हमारे लिये क्या उचित है।

११—न डण्डा मार न डण्डी मार

आजकल वह बड़े राष्ट्र डण्डा चलाने पर उतारू हैं। युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं। अशान्ति की घटा छाई हुई है। द्वेष और शत्रुता की बिजली चमक रही है। ऊपर से शान्ति की बात बनाते हुए भी अन्दर से युद्ध करने व युद्ध छेड़ने में उनको संकोच नहीं है। यदि स्वार्थ-सिद्धि बल कि प्रयोग और प्रदर्शन से होती है तो वह शान्ति-पाठ भूल जाते हैं। हमारे प्रधानमन्त्री डण्डा न चलने पाये इसको रोकने के लिये बड़े प्रयत्नशील हैं और इसके अनेक प्रकार के उपाय वह निकाल रहे हैं। जितना बल अपने राष्ट्र की ओर से डण्डा न चलने पावे इस पर बल

देने की आवश्यकता है इसी प्रकार इससे भी अधिक आवश्यक यह है कि कोई डण्डी भी न मारने पाये।

परस्पर के व्यवहार के लिये न्याय-तुला एक आदर्श उदाहरण है। अर्थात् न्याय की तराजू प्रत्येक व्यवहार के क्षेत्र में ठीक-ठीक प्रयोग में आनी चाहिये। यदि उत्पादन करने वाले वस्तु के उत्पादन में यह भावना रक्खेंगे कि खर्च कम हो, ऊपर की रूपरेखा आकर्षक हो जाये और वह उसका अधिक मूल्य प्राप्त कर सकें तो खरीददार को हानि अवश्य होगी। उत्पादन करने वालों को उत्पन्न की हुई वस्तुओं की मात्रा और गुणों पर पूरा ध्यान रखना चाहिए और खरीददारों में भी यह भावना होनी चाहिये कि वह मूल्य देने में, मूल्य चुकाने में अनुचित भावना का प्रयोग न करें। जो उचित मूल्य है उसको देने के लिये उद्यत रहें। हर व्यवसाय और व्यवहार में एक तराजू बीच में होती है और उस तराजू के दोनों पक्ष सन्मुख रहते हैं। कोई पक्ष ऊँचा और कोई पक्ष नीचा नहीं होना चाहिये। दोनों में समता होना आवश्यक है। विदेशी राष्ट्रों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वहाँ के व्यापारी और व्यवसायी तथा साधारण नागरिक अधिकतर डण्डी मारने के अपराध से मुक्त हैं। सुना जाता है कि अखबार बेचने वाले चौराहे पर अखबार रखकर आगे चले जाते हैं और अखबारों के खरीददार अखबार खरीद कर वहीं पर मूल्य रख देते हैं। अखबार बेचने वाले को लौटने पर मूल्य सुरक्षित प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार हर क्षेत्र में, रेल में, डाकघर में, होटल में, अस्पताल में सब जगह उचित व्यवहार की आशा सब रखते हैं। एक दूसरे को धोखा देगा इसकी सम्भावना वहाँ बहुत कम है। वह नीचे की बातों को साधारण बातों में बहुत सुधारे हुए और साधारण अपराधों से मुक्त हैं। वह डण्डी नहीं मारते हैं परन्तु अवसर आने पर वह डण्डा मारने में संकोच नहीं करते। विदेशों में, अमरीका में अब भी कई प्रदेश ऐसे हैं जहाँ दासता की कुप्रथा किसी न किसी रूप में प्रचलित है जहाँ काले, गोरे रंग का भेद भयङ्कर रूप से फैला हुआ है। अभी कुछ दिन हुए अमरीका जैसे सभ्य देश में

एक काले रंग की लड़की को एक महाविद्यालय में प्रवेश किये जाने पर गोरे रङ्ग वालों ने बड़ा विरोध किया। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका के गोरे वहाँ के काले रङ्ग के निवासियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार कर रहे हैं वह यह भूल जाते हैं कि अफ्रीका की गोरी जातियों को जो कुछ वैभव प्राप्त हुआ है, उन्होंने जो धन कमाया है उसमें भारत के निवासियों का और अफ्रीका के निवासियों का पूरा-पूरा हाथ है। यदि वह काली कही जाने वाली जाति के व्यक्ति अपने अथक् परिश्रम से गन्ने की खेती को सफल न बनाते तो गोरों को आमदनी न होती न उनकी शान बनती और न उनको इतने व्यक्ति अपनी दासता में रखने के लिये मिलते। जिनकी सहायता से धन कमाते हैं, उन्हीं को ही कष्ट देते हैं और सताते हैं। जिस पेड़ पर बैठे हैं उसी की जड़ पर कुल्हाड़ी चला रहे हैं। संसार में संप्रति यह आवश्यक है कि विदेश वालों को ऊपर के क्षेत्र में ईमानदार, सत्य का प्रेमी और न्याय-प्रिय बनाया जाये और भारत के लिये यह आवश्यक है कि उन पर यह प्रभाव डाला जाय कि जैसे उनके शान्ति स्थापन, सार्वजनिक प्रेम और विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त उच्च और अनुकरणीय हैं उसी प्रकार उनको अपने आपस का व्यवहार भ्रष्टाचार से मुक्त और हर प्रकार के अपराधों से बचा हुआ रखना चाहिये। यदि बाहर के निवासी यह देखें कि हमारे देश के प्रतिनिधि डण्डा चलने को रोकने के लिये उत्सुक हैं, परन्तु इतने ऊंचे सिद्धान्त होते हुए भी अपने देश के अन्तर्गत डण्डी मारने की कुप्रथा को नहीं रोक सके तो इसका अर्थ यह होगा कि इतनी ऊँची बात कहने वाले राष्ट्र के नागरिक परस्पर के व्यवहार में इन उच्च सिद्धान्तों के विपरीत चलते हैं और एक-दूसरे को हानि पहुँचाने में सकोच नहीं करते। खाने-पीने की चीजों और ओषधियों में मिलावट इस प्रकार डण्डी मारने के उदाहरण हैं जिनसे जान को उतना ही भय है जितना डण्डे के लगने से जान के जाने का भय है। यदि मृत्यु का भय सम्मुख है तो चाहे डण्डी मारने से या डण्डा मारने से मरने वाले के लिये कोई बड़ा अन्तर नहीं होता। एक दृष्टि से डण्डा मारने की उपेक्षा

डण्डी मारने की प्रथा अधिक आपत्तिजनक है। डण्डा लगने से काम जल्दी तमाम होता है और डण्डी मारने वालों के प्रहार के दुष्परिणाम का प्रभाव बहुत दिनों तक चलता है और कष्ट की अवधि और मात्रा बढ़ती जाती है। दूसरे शब्दों में डण्डी मारने के कारण नागरिक घुल-घुल कर मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं। प्रत्येक राष्ट्र के क्षेत्र में इस कुप्रथा का अति शीघ्र अन्त हो जाना अनिवार्य है।

निर्माण विभाग के अन्तर्गत करोड़ों रुपये के कार्य हो रहे हैं। नदियों के बाँध बनाये जा रहे हैं परन्तु डण्डी मारने वाले बेईमानों ने सुना जाता है इन करोड़ों रुपये के कामों में भी ऐसा व्यवहार किया है जिससे भविष्य में बहुत हानि होने की सम्भावना है। जितना बड़ा कार्य उतनी ही बड़ी बेईमानी की सम्भावना है। चाहे छोटी तराजू हो और चाहे "तक" लगाई जाये तोल-तोल ही है, केवल मात्रा का भेद है। इमारत इत्यादि के कामों में यदि भ्रष्टाचार और अपराध होता है तो उसका भयंकर परिणाम होता है। बने-बनाये मकान शीघ्र गिरने लगते हैं। बनते देर नहीं, मरम्मत का प्रश्न सम्मुख रहता है। यदि उपरोक्त दृष्टिकोण से प्रत्येक राष्ट्र के कार्य में चाहे वह करोड़ों का हो चाहे सैकड़ों और हजारों का, ध्यान न रक्खा गया तो उस समय तक देश की दशा चिन्तित रहेगी। नित्यप्रति आने वाली दैविक आपत्तियाँ इस बात की चेतावनी हैं कि परस्पर के व्यवहार का दोष और डण्डी मारने की कुप्रथा भयंकर परिणाम उत्पन्न कर रही है। अति भौतिक दुःख, पाप का परिणाम है। दुःख का निराकरण उसी समय हो सकता है जब उस कार्य रूप दुःख के पाप रूप कारण का निराकरण कर दिया जाये। राष्ट्र के निर्माण और सुधार के लिये मानव के अन्दर और बाहर दोनों ओर देखना होगा। अन्दर का साम्राज्य भी न्याय-युक्त हो तो बाहर का साम्राज्य भी न्याय-युक्त होगा। न्याय की प्रथा भी एक प्रकार की तराजू का प्रयोग है। न्याय को न्याय-तुला भी कहते हैं। न्यायालयों में भी न्याय-तुला के ठीक प्रयोग की आवश्यकता है। न्याय-क्षेत्र में जो डण्डी मारने की कुप्रथा प्रचलित है, एक-दूसरे को हानि

पहुँचाने की कुचेष्टा की जाती है उसको भी दूर करने की आवश्यकता है। आन्तरिक सुधार बाहर के सुधार से अधिक आवश्यक है। यदि अन्दर और बाहर, ऊपर और नीचे, दायें और बायें हर दिशा में न्याय-तुला का प्रयोग होगा, न्याय-व्यवस्था का पालन होगा तो डण्डी मारने की कुप्रथा बन्द होगी और डण्डा मारने के लिये भी अवसर बहुत कम आयेंगे।

१२—फुरसत नहीं है।

आजकल जिसे देखो वह यह कहता हुआ सुना जाता है कि फुर्सत नहीं है, समय नहीं है, काम के मारे मरा जाता हूँ।

प्रत्येक व्यक्ति धन कमाने की चिन्ता में है। बच्चों की पढ़ाई में संलग्न है। लड़के लड़कियों के विवाह की चिन्ता में है और अपने व्यवसाय को सफल बनाने की चिन्ता में है। इन सब कामों में लगा हुआ व्यक्ति यह विचार नहीं कर सकता कि उसका सारा समय लग रहा है बीत रहा है परन्तु क्या कभी वह यह विचार भी करता है कि यह सब दौड़-धूप, खेंचा-तानी, छीना झपटी किस लिये हैं। क्या कभी कोई व्यक्ति यह सोचता है कि उसका चरित्र कैसा है वह क्या करता है और उसे क्या करना चाहिये। उसको इन बातों की फुर्सत नहीं।

हमारे राष्ट्र नायक और संचालक, हमारे आदरणीय नेता निर्माण कार्यों में लगे हुए हैं सड़कों का निर्माण हो रहा है, बिजली के उत्पादन में वृद्धि है। नये नये उद्योग और धन्धे प्रचलित हो रहे हैं। खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ रहा है। अधिक पेड़ लगाये जा रहे हैं। इस सारी निर्माण व्यवस्था की धूम में उनको यह फुर्सत नहीं है कि व्यक्तियों का, नागरिकों का, देशवासियों का चरित्र-निर्माण भी हो रहा है या नहीं। यदि अधिकारी राष्ट्रनायक और संचालक नित्य-प्रति केवल इतनी फुर्सत निकालने की आदत डालें कि रात्रि को सोते समय

इस बात पर विचार कर सकें कि दिन भर की कार्य-प्रणाली का उनके चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ा और प्रातःकाल उठकर यह विचार करलें कि उन्हें आज दिन भर में क्या-क्या करना है और उसका करना कहाँ तक उचित और अनुचित है तो मेरी धारणा है कि इस सब काम-काज और दौड़-धूप का परिणाम व्यक्ति, राष्ट्र और समाज के लिये हितकर होगा। किये जाओ, होता रहे, रुको मत, कुछ करना ही है, यह सब लाभदायक हैं परन्तु अन्त में यदि इन सबके साथ यह भावना न हुई कि क्या करना है क्या नहीं करना है जो किया जा रहा है वह उचित है या अनुचित तो सारा किया-कराया बेकार रहेगा और काम पूरा हो जाये परन्तु यही कहना पड़ेगा कि काम तमाम हो गया। काम पूरा हुआ हम अधूरे हो गये।

१३—राष्ट्र-निर्माण : समाज-कल्याण

विद्यार्थियों से अनुरोध

स्वतन्त्र भारत के भावी नागरिक विद्यार्थी और विद्यालयों के छात्र हैं। देश का उज्ज्वल भविष्य उन्हीं पर निर्भर है। विद्यार्थियों के निर्माण पर ही राष्ट्र का निर्माण निर्भर है और राष्ट्र के निर्माण से ही समाज कल्याण का उद्देश्य पूरा हो सकता है।

समाज-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण के लिये व्यक्तित्व निर्माण और चरित्र-निर्माण अति आवश्यक है। चरित्र-निर्माण की आधार-शिला प्रारम्भिक जीवन में ही रखी जा सकती है।

विद्यार्थियों में सफलता प्राप्त करने की भावना, परीक्षा में उत्तीर्ण होने की भावना स्वाभाविक है। परन्तु विचार यह करना है कि परीक्षा पास करने की चिन्ता से हमारे आशास्थल विद्यार्थी मर्यादित सभ्यता और मानवता से तो दूर नहीं होते जा रहे हैं।

गुरुओं और अध्यापकों

गुरुओं और अध्यापकों की सेवा करना मानव धर्म है। यदि अध्यापक विद्यार्थियों को किसी अपराध करने या परीक्षा में अनुचित व्यवहार करने से अपने कर्त्तव्य पालन के आधार पर रोके तो उनको उनके साथ दुर्व्यवहार करना, उन पर आक्रमण करना और उन्हें क्षति पहुँचाना सर्वथा अनुचित है। विद्यार्थियों के इस प्रकार के व्यवहार से अध्यापकों के लिये एक विशेष कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। यदि वे नहीं रोकते तो अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करते। उनके उच्च अधिकारी उनको दण्डित कर सकते हैं। यदि रोकते हैं तो उनकी जान और मान-मर्यादा खतरे में पड़ जाती है।

विद्यार्थियों ने अपने संघ बनाए हुए हैं, वे स्वयं अपने हित व अहित पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर सकते हैं। हम अपने प्यारे विद्यार्थियों से जोरदार शब्दों में अनुरोध करते हैं कि वे भारत की स्वतन्त्रता और देश की मान-मर्यादा को लक्ष्य में रखकर अपने उन विद्यार्थी भाइयों को अनुचित व्यवहार करने से रोके जो सफलता की चिन्ता में सीमा का उलंघन करके अनुचित साधनों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते।

हम यह नहीं कहते कि सब विद्यार्थी अनौचित्य करते हैं। अनौचित्य करने वालों की संख्या थोड़ी है।

मुद्रक—गुलाबचन्द अग्रवाल बी०कॉम०, अग्रवाल प्रेस, रावतपाड़ा, आगरा।